हिन्दी त्रैमासिक
क-ज्योति
२५ अंक १

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर

• १९९७ •

प्रबन्ध सम्पादक तथा व्यवस्थापक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- | वर्ष ३५ अंक ४ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(११२ वीं तालिका)

४०५९. श्री गिरिजा प्रसाद शुक्ला, अम्बिकापुर, सरगूजा (म.प्र.)
४०६०. श्री अरुण सिंह, रीवा (म.प्र.)
४०६१. डॉ. मदन मोहन भण्डारी, जोधपुर (राज.)
४०६२. श्री श्यामस्वरूप शर्मा, अम्बाला शहर (हरियाणा)
४०६३. सी. बी. सिंह राठोर, माधवगढ़, जालोन (उ.प्र.)
४०६४. उन्मेश ए. राने, शेगाँव, बुलढाणा (महा.)
४०६५. सुश्री सुधा मल्होत्रा, इलाहाबाद (उ. प्र.)
४०६६. सुश्री स्नेहलता अग्रवाल, देहरादून (उ. प्र.)
४०६७. श्री वासुदेव बैनर्जी, रतलाम (म. प्र.)
४०६८. श्री जवाहर लाल राठोर, इन्दौर (म. प्र.)
४०६९. श्री सी. वी. जोशी, राजकोट (गुजरात)
४०७०. श्री राजू भाई जोशी, आदिपुर, कच्छ (गुजरात)
४०७१. श्री मोहन लाल मेवारा, संजय ब्रिज, खरगोन (म. प्र.)
४०७२. श्री प्रज्ञेश कुमार वसनी, धरमपुर, बलसाड़ (गुजरात)
४०७३. श्री रामफल ठाकरान, नागल ठाकरान (दिल्ली)
४०७४. श्री किशोर कुमार टॉक, सामनापुर, बालाघाट (म. प्र.)
४०७५. श्री कैलाश मोहित, देवास (म. प्र.)
४०७६. श्री बबन प्रसाद मिश्र, रायपुर (म. प्र.)
४०७७. श्री घनश्याम गौतम, ग्वालियर (म. प्र.)
४०७८. श्री सुनील कुमार तिवारी, टाँटीबंद, रायपुर (म. प्र.)
४०७९. श्री मयाचन्द पटेल, सनावद, खरगोन (म. प्र.)
४०८०. श्री संजय दवे, बड़ौदा (गुजरात)
४०८१. श्री अरविन्द वर्मा, सत्तीबाजार, रायपुर (म. प्र.)
४०८२. श्री शरद पलसूले, भोपाल (म. प्र.)
४०८३. श्री आर. बी. सिंह, भिलाई, दुर्ग (म. प्र.)
४०८४. श्रीमती सरोज पारखे, रोहनीपुरम, रायपुर (म. प्र.)
४०८५. श्रीमती सारदा गुप्ता, सतना (म. प्र.)
४०८६. श्री एम. एल. पवार, डंगनिया, रायपुर (म. प्र.)
४०८७. श्री ओंकार गिरि गोस्वामी, जशपुरनगर, रायगढ़ (म. प्र.)
४०८८. श्री रामेश्वर प्रजापति, उज्जैन (म. प्र.)
४०८९. श्री अनूप कानूनगो, इन्दौर (म. प्र.)

ग्राहकों से निवेदन

(१) जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का रु. २०/- संलग्न मनिआर्डर फार्म के द्वारा भिजवा देवें। आप में से जिनका सम्पूर्ण चन्दा जमा नहीं है, वे भी कृपया संलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शायी बकाया राशि भेजकर वर्ष की अपनी समस्त प्रतियाँ सुरक्षित करा लें।

(२) ग्राहकों से निवेदन है कि वे मनीआर्डर के कूपन में भी अपना नाम और पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का भी उल्लेख करें तथा नये ग्राहक लिख दें – "नया ग्राहक"। यदि पुराने ग्राहकों को अपनी ग्राहक-संख्या का स्मरण न हो, तो वे कृपया लिखें – "पुराना ग्राहक"।

(३) जिन ग्राहकों को प्रायः डाक की अव्यवस्था के कारण पत्रिका न मिलने की शिकायत रहती है, उनसे अनुरोध है कि वे यदि प्रति अंक रु. ३/- का अतिरिक्त व्यय वहन करके पत्रिका को वी. पी. से मँगवायें, तो उन्हें सभी अंक सुरक्षित मिल जायेंगे। ग्राहकों पर यह अतिरिक्त व्ययभार पड़ने का हमें खेद है, परन्तु पत्रिका की सुरक्षित प्राप्ति का यही सरल उपाय है। आशा है आप हमें इसमें सहयोग देंगे। जिन ग्राहकों को हमारा यह सुझाव मान्य हो, वे कृपया हमें इसकी सूचना दें।

(४) अंक न मिलने की शिकायत एक माह पूरा हो जाने के बाद ही करें। पत्र लिखते समय अपनी ग्राहक-संख्या तथा अपने नाम व पिनकोड सहित पूरे पते का स्पष्ट रूप से उल्लेख करें।

– व्यवस्थापक

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर–नवम्बर–दिसम्बर

◆ १९९७ ◆

वर्ष ३५ अंक ४

संसार – दुःख का आगार

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमो यौवने चोपभोगः ।
वामाक्षीणामवज्ञा- विहसित- वसतिर्वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित् ।

अन्वय – गर्भवासे (गर्भवास के समय) [जीव] अमेध्य-मध्ये (मल-मूत्र से पूर्ण अपवित्र स्थान में) नियमित-तनुभिः (शरीर को सिकोड़कर) कृच्छ्रेण (बड़े कष्टपूर्वक) स्थीयते (निवास करता है), यौवने (युवावस्था में) उपभोगः च (सम्भोग आदि सुख भी) कान्ता (प्रियतमा से) -विश्लेष (विछोह के) दुःख-व्यतिकर (दुःखपूर्ण सम्पर्क से) विषमो (विकल) [रहता है], वामाक्षीणाम् (सुनयना ललनाओं के) अवज्ञा-विहसित-वसतिः (अवज्ञापूर्ण उपहास का पात्र) वृद्ध-भावः (बुढ़ापा) अपि (भी) असाधुः (वांछनीय नहीं है), [अतएव] रे मनुष्या (हे मनुष्यो) संसारे (गर्भवास-जन्म-जरादि युक्त इस संसार में) यदि (अगर) सु-अल्प (अत्यन्त थोड़ा) अपि (भी) किंचित् (कुछ) सुखं (सुख) अस्ति (हो) वदन (तो बताओ) [अर्थात् संसार में बिल्कुल भी सुख नहीं है] ।

अर्थ – गर्भवास के समय मनुष्य मलमूत्र से पूरित अपवित्र स्थान में शरीर को सिकोड़कर रहता है, युवावस्था में उसे अपनी प्रेयसी के वियोग का विषम दुःख भोगना पड़ता है और वृद्धावस्था में भी सुन्दर नेत्रोंवाली नारियों के अवज्ञापूर्ण उपहास का पात्र बनना पड़ता है । हे मनुष्यो, बताओ क्या इस संसार में थोड़ा-सा भी सुख है ?

– भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ३७

शारदा-वन्दना

— १ —

(छायानट-कहरवा)

हे ज्ञानदायिनी सारदे ।
माया में अब न भुला रखना, हमको ये विषय असार दे।।

कर दूर सभी के दुख-दुराव, जन-मन में उपजा बन्धुभाव;
आशा-तृष्णा का कर मोचन, सबको निज स्नेह-दुलार दे ।।

डगमग डोले नैया मेरी, पतवार एक करुणा तेरी;
अब और विलम्ब न कर जननी, इस भवसागर से तार दे ।।

ममता की दृष्टि सतत करना, अज्ञान दोष भय दुख हरना;
अँधियारा है मन मन्दिर में, प्रज्ञान-दीप को बार दे ।।

— २ —

(वैरागी-रूपक)

सारदे वर दे, सारदे वर दे ।
रिक्त है मम प्राण-अन्तर, स्नेह से भर दे ।।

मन विहग चंचल हमारा, भटकता रहता बिचारा,
निज चरण के पिंजरे में, तू इसे धर दे ।। सारदे.

श्रेय पथ पर चल सकें हम, दीप बन कर जल सकें हम,
चेतना से युक्त कर माँ, मूढ़ता हर दे ।। सारदे.

वीर हम तेरे तनय हैं, धीर संयत चिर अभय हैं,
न्याय पथ से च्युत न होवें, वज्र अन्तर दे ।। सारदे.

भारती की साधना में, सत्य की आराधना में,
हम स्वयं को होम कर दें, अग्नि में सर दे ।। सारदे.

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

खेतड़ी,
८ दिसम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

कल हम लोग खेतड़ी के लिए रवाना होंगे। देखते देखते हम लोगों का सामान बहुत बढ़ गया है। खेतड़ी पहुँचकर सभी को मठ में भेजने का विचार है। इनके द्वारा जिन कार्यों की मुझे आशा थी, उसका कुछ भी न हो सका। अर्थात् मेरा साथ रहने से कोई भी व्यक्ति कुछ भी कार्य नहीं कर सकेगा — यह निश्चित है। स्वतंत्र रूप से भ्रमण किये बिना इन लोगों के द्वारा कुछ भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् मेरे साथ रहने से इनको कौन पूछेगा — केवल समय नष्ट करना है। इसलिए इन लोगों को मठ भेज रहा हूँ।

दुर्भिक्ष-कोष में जो धन अवशिष्ट है, उसे किसी स्थायी कार्य के लिए पृथक् कोष में जमा रखने की व्यवस्था करना तथा दुर्भिक्ष-कार्य का पूरा विवरण देकर लिख देना कि 'इतने रुपये किसी अन्य अच्छे कार्य के लिए रखे हुए हैं।'

मैं काम चाहता हूँ — किसी प्रकार की धोखाधड़ी नहीं चाहता हूँ। जिन लोगों की काम करने की इच्छा नहीं है, उनसे मुझे यही कहना है कि वे अभी से अपना रास्ता देखें। यदि तुम्हारा मुख्तारनामा खेतड़ी पहुँच गया होगा, तो वहाँ पहुँचते ही मैं उस पर हस्ताक्षर करके भेज दूँगा। अमेरिका के बोस्टन की मुहर जिन पत्रों पर हो, केवल उन्हीं को खोलना; अन्य पत्रादि को मत खोलना। मेरे पत्रादि खेतड़ी के पते पर भेज देना। राजपुताना में ही मुझे धन मिल जायगा, तदर्थ चिन्तित न होना। तुम लोग जी-जान से जगह के लिए प्रयास करो — अब की बार अपनी जमीन पर ही महोत्सव करना होगा।

रुपये क्या बंगाल बैंक में जमा हैं अथवा तुमने अन्यत्र कहीं रखे हैं ? रुपये-पैसों के बारे में विशेष ध्यान रखना; पूरा पूरा हिसाब रखना एवं यह ख्याल रखना कि धन के मामले में अपने बाप पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

सबसे प्यार कहना। हरि का स्वास्थ्य कैसा है, लिखना। देहरादून में उदासी साधु कल्याणदेव तथा और भी दो-एक जनों के साथ भेंट हुई थी। हृषीकेश के लोग मुझे देखने के लिए विशेष उत्सुक हैं – 'नारायण हरि' की बात बार बार पूछी गयी।

सस्नेह तुम्हारा,

विवेकानन्द

– २ –

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

मरी (?)

११ अक्तूबर, १८९७

अभिन्नहृदय,

पिछले दस दिनों के दौरान काश्मीर में जो कुछ भी कार्य किया गया है, मुझे ऐसा लगता है कि मैंने उसे किसी प्रकार के आवेश में किया है। चाहे उसका सम्बन्ध शरीर से रहा हो अथवा मन से। अब मैं इस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि इस समय मैं और किसी कार्य के योग्य नहीं रह गया हूँ। ... मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैंने तुम लोगों के प्रति अत्यन्त कटु व्यवहार किया है। फिर भी मैं यह जानता हूँ कि तुम मेरी सारी बातों को बर्दाश्त करोगे; मठ में इसको सहन करनेवाला और कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। तुम्हारे साथ मैंने अत्यन्त कटु व्यवहार किया है; जो होना था सो हो गया – भाग्य की बात है। मैं इसके लिए पश्चात्ताप क्यों करूँ, उसमें मेरा विश्वास नहीं है – यह भी भाग्य की बात है! 'माँ' का कार्य जितना मुझसे हो सकता था, उतना सम्पादन कराकर अन्त में 'माँ' ने मेरे शरीर तथा मन को अपहरण कर मुझे त्याग दिया। माँ की जो इच्छा!

अब मैं इन तमाम कार्यों से छुट्टी लेना चाहता हूँ। दो-एक दिन के अन्दर सब कुछ त्यागकर मैं अकेला ही कहीं चल दूँगा और चुपचाप कहीं पर अपना बाकी जीवन व्यतीत करूँगा। तुम लोग यदि चाहो तो मुझे क्षमा कर देना, अथवा जो इच्छा हो करना। श्रीमती बुल ने अधिक धन प्रदान किया है। शरत् पर उनका अधिक विश्वास है। शरत् के परामर्शानुसार समस्त मठों की व्यवस्था करना, अथवा जो चाहो करना। किन्तु यह ध्यान रखना कि मैंने सदा वीर की तरह जीवन बिताया है – मेरा कार्य तड़ित् के समान क्षिप्र तथा वज्र के समान अटल होना चाहिए। अन्तिम

समय तक मैं इसी तरह बना रहना चाहता हूँ। अतः मेरे कार्य को पूरा कर देना – हार-जीत के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं लड़ाई में कभी पीछे नहीं हटा हूँ; अब क्या पीछे हट सकूँगा? ... सभी कार्यों में हार-जीत अवश्यम्भावी है; किन्तु मेरा विश्वास है कि कायर मरकर निश्चित रूप से कृमिकीट बनता है। युग युग तपस्या करने पर भी कायरों का उद्धार नहीं हो सकता। क्या अन्त में मुझे कृमिकीट होकर जन्म लेना पड़ेगा ? ... मेरी दृष्टि में यह संसार एक खेल के सिवाय और कुछ नहीं है – और सदैव यह ऐसा ही रहेगा। सांसारिक मान-अपमान, लाभ-हानि को लेकर क्या छह महीने तक सोचते रहना होगा ? ... मैं काम करना पसन्द करता हूँ। केवल विचार-विमर्श ही हो रहा है, कोई कुछ परामर्श दे रहा है, तो कोई कुछ; कोई आतंकित कर रहा है, तो कोई डरा रहा है। मेरी दृष्टि में यह जीवन इतना मधुर नहीं है कि इस तरह भयभीत होकर सावधानी के साथ इसकी रक्षा करनी होगी। धन, जीवन, बन्धु-बान्धव, मनुष्यों के स्नेह आदि के बारे में यदि कोई सिद्धि-प्राप्ति में निःसन्दिग्ध होकर कार्य करना चाहे, अथवा तदर्थ यदि इतना भयभीत होना पड़े, तो उसकी गति वही होती है जैसा कि श्री गुरुदेव कहा करते थे कि कौआ अत्यधिक सयाना होता है लेकिन ... आदि आदि। चाहे और कुछ भी क्यों न हो, रुपये-पैसे, मठ-मन्दिर, प्रचारादि की सार्थकता ही क्या है ? समग्र जीवन का एकमेव उद्देश्य है – शिक्षा। शिक्षा के बिना धन-दौलत, स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता ही क्या है ?

इसलिए रुपयों का नाश हुआ अथवा किसी वस्तु की हानि हुई – मैं इन बातों के लिए न तो चिन्ता करता हूँ और न करूँगा ही। जब मैं लड़ता हूँ, कमर कसकर लड़ता हूँ – इस बात को मैं अच्छी तरह से समझता हूँ; और जो यह कहता है कि 'कुछ परवाह नहीं, वाह बहादुर, मैं साथ में ही हूँ' – उसे मैं मानता हूँ, उस वीर को, उस देवता को मैं मानता हूँ। उस प्रकार के नरदेव के चरणों में मेरे कोटि कोटि नमस्कार; वे जगत्पावन हैं, वे जगत के उद्धार करनेवाले हैं! और जो लोग केवल यह कहते हैं कि – 'अरे, आगे न बढ़ना, आगे डर है, आगे डर है' – ऐसे जो कायर (डिस्पेप्टिक) हैं, वे सदा भय से काँपते हैं। किन्तु जगन्माता की कृपा से मुझमें इतना साहस है कि इस भयानक डिस्पेप्सिया के द्वारा कभी मैं कायर नहीं बन सकता हूँ। कायरों से और क्या कहा जाय, उनसे मुझे कुछ भी नहीं कहना है। किन्तु जो वीर इस संसार में महान कार्यों को करते हुए निष्फल हुए हैं, जिन्होंने कभी किसी कार्य से मुँह नहीं मोड़ा हो, जिन लोगों ने अहंकार के वशीभूत होकर कभी आदेश की अवहेलना

नहीं की है, वे मुझे अपने चरणों में आश्रय प्रदान करें – यह मेरी कामना है। मैं ऐसी दिव्य माँ की सन्तान हूँ, जो सभी शक्तियों की धात्री हैं। मेरी दृष्टि में मैले-कुचैले फटे वस्त्र के सदृश तमोगुण तथा नरक-कुण्ड में कोई भेद नहीं है, दोनों ही बराबर हैं। माँ जगदम्बे, हे गुरुदेव ! आप कहा करते थे – 'यह वीर है !' मुझे कायर बनकर न मरना पड़े। भाई, यही मेरा प्रार्थना है। **उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा** – श्रीरामकृष्ण देव के दासानुदासों में से कोई-न-कोई मुझ जैसा अवश्य बनेगा, जो मुझे समझेगा।

'हे वीर, स्वप्न को त्यागकर जाग्रत हो; मृत्यु सिर पर खड़ी है ... वह तुम्हें भयभीत न करे।' जो मैंने कभी नहीं किया है, रण में पीठ नहीं दिखायी है, क्या आज वही होगा ? हारने के भय से क्या मैं युद्धक्षेत्र से पीछे हटूँगा ? हार तो वीर के अंग का आभूषण है; किन्तु क्या बिना लड़े ही हार मान लूँ ?

तारा ! माँ ! ... ताल देनेवाला एक भी व्यक्ति नहीं है; किन्तु मन में यह पूर्ण अहंकार है कि – 'हम सब कुछ समझते हैं।' ... अब मैं जा रहा हूँ। सब कुछ तुम्हारे लिए छोड़े जा रहा हूँ। माँ यदि पुनः ऐसे व्यक्ति प्रदान करें कि जिनके हृदय में साहस, हाथों में शक्ति तथा आँखों में अग्नि हो, जो जगदम्बा की वास्तविक सन्तान हों – ऐसा यदि एक भी व्यक्ति मुझे दें तो मैं काम करूँगा, पुनः वापस लौटूँगा; अन्यथा मैं यह समझूँगा कि माँ की इच्छा केवल इतनी ही थी। मैं अब प्रतीक्षा करना नहीं चाहता, मैं चाहता हूँ कि कार्य में वायु-वेग सी शीघ्रता हो, मुझे निर्भीक-हृदय व्यक्ति मिलें।

तुम सभी को मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। शक्तिरूप से तुम्हारे अन्दर माँ का आविर्भाव हो, **अभयं प्रतिष्ठाम्** – माँ तुम्हें वह अभय प्रदान करें, जो एकमात्र सहारा है। मैंने अपने जीवन में यह अनुभव किया कि जो स्वयं सावधान रहना चाहता है, उसे पग पग पर विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। जो सम्मान तथा प्रतिष्ठा खो जाने के भय से पीड़ित रहता है, उसकी अवमानना होती है। जो सदा नुकसान से घबराता है, उसके भाग्य में सदा नुकसान ही उपस्थित है। ... तुम लोगों का कल्याण हो। अलमिति।

सस्नेह तुम्हारा,

विवेकानन्द

जीवन का समुचित उपयोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)।

हमारे जीवन का समुचित उपयोग तब होता है, जब उसे हम दूसरों के काम में लगाते हैं। अपने लिए तो पशु भी जीते हैं। केवल मनुष्य में ही ऐसी क्षमता है कि वह चाहे तो दूसरों के लिए जी सकता है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि जो जितनी मात्रा में दूसरों के लिए जीता है, उसमें मानवता उतनी ही मात्रा में प्रकट होती है। स्वार्थ का नाश ही मानवता को प्रकट करता है।

हम जो उपासना आदि करते हैं, वह भी इसीलिए कि हम स्वार्थ के दोष से मुक्त हों और दूसरों के प्रति सदैव भला करें। एक ओर तो हम पूजा-पाठ करते हों, देवस्थानों के दर्शन हेतु जाते हों और दूसरी ओर अपने स्वार्थ की संकीर्ण सीमा के भीतर घिरे हों, तो हमारी ऐसी उपासना आत्मशुद्धि के लिए न होकर व्यावसायिक ही अधिक होती है। हम ईश्वर की प्रसन्नता तब प्राप्त करते हैं, जब हम उसे मात्र मन्दिर की मूर्ति में न देख, बाहर संसार में पीड़ितों और दुखियारों के भीतर देखते हैं तथा उनकी पीड़ा को यथाशक्ति दूर करने की चेष्टा करते हैं। ईश्वर को मात्र अपनी स्तुति या चापलूसी पसन्द नहीं।

एक धनी व्यक्ति का एक बगीचा था, जिसमें दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा सुस्त और कमजोर था, परन्तु जब कभी वह अपने मालिक को आते हुए देखता, झट उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहता, "मेरे स्वामी का मुख कैसा सुन्दर है !" और ऐसा कहकर उसके सम्मुख नाचने लगता। दूसरा माली ज्यादा बातचीत नहीं करता था, उसे तो बस अपने काम से काम था। वह बड़ी मेहनत करके बगीचे में तरह तरह के फल-तरकारी पैदा कर वह सब स्वयं अपने सिर पर रखकर मालिक के घर पहुँचाता था, यद्यपि मालिक का घर बहुत दूर था। अब

इन दो मालियों में से मालिक किसको अधिक चाहेगा ? बस, ठीक इसी प्रकार यह संसार एक बगीचा है, जिसके मालिक भगवान हैं। यहाँ भी दो प्रकार के माली हैं – एक तो वह जो अकर्मण्य, सुस्त और ढोंगी है तथा जो भगवान के सुन्दर नेत्र, नासिका तथा अन्य अंगों की प्रशंसा करता रहता है और दूसरा वह है जो भगवान के सन्तानों की, दीन-दुखी प्राणियों की और भगवान की सृष्टि की चिन्ता करता है। इन दो प्रकार के लोगों में से कौन भगवान को अधिक प्यारा होगा ? निश्चय ही वह जो उनकी सन्तानों की सेवा करता है। जो व्यक्ति भगवान की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी सन्तानों की पहले सेवा करनी चाहिए। कहा भी तो है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है, वही भगवान का सर्वश्रेष्ठ दास है।

जीवन का समुचित उपयोग इसमें है कि वह यथासम्भव शुद्ध रखा जाय और सामर्थ्य के अनुसार अभावपीड़ितों की सहायता की जाय। इससे चित्त की मलिनता दूर होती है। चित्त के शुद्ध होने पर हृदय के भीतर वास करनेवाले भगवान प्रकट हो जाते हैं।

इसे यों समझें कि यदि शीशे पर धूल पड़ी हो, तो हम उसमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकते। धूल के साफ होने पर प्रतिबिम्ब साफ झलकने लगता है। इसी प्रकार अज्ञान और अज्ञान से उत्पन्न स्वार्थपरता हमारे हृदयरूपी शीशे पर धूल की भाँति जमा हो गये हैं। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ही पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय और मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह स्वार्थी है। निःस्वार्थी व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी आकांक्षा नहीं है। यदि मेरे नरक में जाने से किसी को लाभ हो सकता है, तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।' यह निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें जितनी अधिक निःस्वार्थता है, वह उतना ही आध्यात्मिक है तथा भगवान के उतना ही समीप, भले ही वह अज्ञेयवादी हो या नास्तिक। ऐसा व्यक्ति ही अपने जीवन का समुचित उपयोग करता है। इसके विपरीत, यदि व्यक्ति स्वार्थी है, तो चाहे उसने संसार के सब मन्दिरों के दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थों में ही वह क्यों न गया हो, पर वह भगवान से बहुत दूर है और कहना होगा कि उसने जीवन का समुचित उपयोग करना सीखा नहीं। ☆

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(अट्ठावनवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होने पहले बेलुड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर बँगला में धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। यह प्रवचनमाला को संग्रहित होकर छह भागों में प्रकाशित हुई है। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

रामलाल और काली-मन्दिर के एक ब्राह्मण कर्मचारी ने मिलकर तीन भजन गाये। उसके बाद ठाकुर ईश्वर-प्राप्ति के उपाय के विषय में कहने लगे – बाघ जैसे अन्य पशुओं को खा जाता है, वैसे ही ईश्वरानुराग काम-क्रोध आदि रिपुओं को खा जाता है। अनुराग होने पर फिर यह सब नहीं रह जाता। गोपियों को यह अनुराग हुआ था। श्री राधा चारों ओर सब कुछ श्रीकृष्णमय देखती थीं। इसे कहते हैं – 'अनुराग-अंजन'। शास्त्र के सिद्धान्त अनुराग के आवेग में प्रत्यक्ष होते हैं। बद्ध जीव भगवान के बारे में जरा भी नहीं सोचता। वह काम-क्रोध आदि रिपुओं के वश में रहता है। इस संसारी जीव के द्वारा कोई महान कार्य नहीं होता। बद्ध जीव मानो रेशम के कीड़े हैं, अपने ही लार से कोया बनाते हैं और उसमें से निकलना नहीं चाहते। मनुष्य क्यों इस प्रकार अपने को बद्ध करके मृत्यु का वरण करता है। उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "वे माया में भुलाये रखती हैं।"

मनुष्य कई प्रकार के होते हैं। साधनसिद्ध तरह तरह के साधन-भजन करके आगे बढ़ता है, जैसे किसान परिश्रम करके खेत में पानी लाता है और फसल उगाता है। और कृपासिद्ध अलग श्रेणी के होते हैं। वर्षा के जल से स्वतः ही फसल उगता है, पानी लाना नहीं पड़ता। भगवान की कृपा से वे अनायास ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। लेकिन ऐसे दो-एक ही होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि साधना की क्या आवश्यकता है ? वे कृपा करके सबको ही सिद्धि क्यों नहीं प्रदान कर देते ? भगवान क्या करेंगे,

यह तो वे ही जानें। परन्तु हमारा क्या कर्तव्य है ? यही कि हमें इसे जानकर उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए साधन-भजन करना होगा। हम यदि सिद्धि चाहते हैं, तो उसके लिए जो कर्तव्य है, उसे हमें पूरा करना होगा। वे यदि साधना के बिना ही उद्धार कर दें, तो उनकी खुशी। और भी एक प्रकार है – नित्यसिद्ध। इनका प्रत्येक जन्म में ज्ञान – चैतन्य बना रहता है। सब किया हुआ है, उनके भीतर ज्ञान परिपूर्ण है, केवल थोड़े समय की प्रतीक्षा है, सुयोग आते ही भीतर की ज्ञान-भक्ति प्रकट हो उठती है। ये लोग अवतार के साथ आते हैं।

गोपियों का अनुराग

ठाकुर कहते हैं – श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का कैसा अनुराग था ! कैसी व्याकुलता थी ! गोपीभाव के भजन सुनते सुनते उन्हें समाधि लग गयी। चारों ओर कृष्णमय देख रहे हैं। फिर समाधिस्थ हुए। भक्तगण महाभावमय ठाकुर का वह रूप देख रहे हैं।

समाधि टूटने के बाद वे कुछ बोल रहे हैं। श्रीयुत अधर सेन अपने कुछ मित्रों को साथ लेकर आये हैं। ठाकुर स्वगत में बोले जा रहे हैं। उन्हीं के मन में प्रश्न उठता है और स्वयं ही उसका उत्तर दे रहे हैं। विषयी लोगों में कभी कभी ज्ञान का उन्मेष दिखाई देता है – दीपशिखा के समान। फिर तुरन्त कहते हैं, "नहीं, नहीं, सूर्य की एक किरण के समान, मानो छिद्र से होकर किरण आ रही है। विषयी मनुष्य और भगवान का नाम ! उसमें अनुराग नहीं होता।" विषयी लोग बिना अनुराग के ईश्वर का नाम लेते हैं। ईश्वरतत्त्व के सम्बन्ध में उन्हें कोई धारणा नहीं होती, अनुभव नहीं होता। उनकी साधना में कोई जिद नहीं होती। जीव अपने कर्मों के अनुसार फल भोगता है। ठाकुर एक भजन गाते हैं, "माँ श्यामा, दोष किसी का नहीं, मैं अपने ही हाथों खोदे हुए कुएँ में डूब रहा हूँ" – अपने ही कर्मफल भोग रहा हूँ।

मैं-मेरा का बोध और मृत्युभय

ठाकुर कहते हैं, "मैं और मेरा ही अज्ञान है।" यह जो हमारा 'मैं' तथा 'मेरा' का बोध है, यही समस्त दुःखों का कारण है। यदि इस मैं की सीमा को तोड़ दिया जाय, तो फिर मैं का अस्तित्व नहीं रह जायगा। एकमात्र वे ही हैं। इस अनित्य वस्तु की आड़ में वे विराजमान हैं। विचार करने पर दिखाई देगा – क्या मैं शरीर हूँ ? या हाड़-मांस हूँ ? या कुछ और हूँ ? मैं यह सब कुछ भी नहीं, मुझमें कोई उपाधि नहीं।

उपाधि एक विशेष रूप है, जिसके द्वारा हम स्वयं को भगवान से पृथक करते

हैं। देह, मन, इन्द्रियों का धर्म आत्मा पर आरोपित हो रहा है। हम मोटे हों या दुबले – यह देह का धर्म है, जो आत्मा पर आरोपित हो गया; और हम कहते हैं – मैं अर्थात् आत्मा मोटा या दुबला हूँ, इत्यादि। इसी तरह इन्द्रियों तथा मन का धर्म आत्मा पर आरोपित हो रहा है। ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। आत्मा में न तो पाप है और न पुण्य, वह समस्त गुणों से अस्पृष्ट है।

ईश्वर-दर्शन होने पर विचार बन्द हो जाता है। तब कोई विचार मन में नहीं उठता। प्रत्यक्ष बोध हो जाने पर प्रश्न नहीं उठते। ठाकुर कहते हैं, "ऐसा भी होता है कि कोई कोई भगवान को पा लेने के बाद भी विचार करते हैं। ज्ञान के बाद भी किसी किसी में दूसरों के लिए विचार रह जाता है। स्वयं के अनुभव दूसरों को प्रत्यक्ष कराने के लिए वे विचार करके उस तत्त्व को उनके अन्तःकरण में प्रवेश कराने की चेष्टा करते हैं। दूसरों को उस तत्त्व का बोध कराने के लिए शंकराचार्य आदि ने विचार किया था। कोई कोई भक्ति के सहारे भगवान का गुणगान करते हैं। भगवान को पा लेने के बाद भी, उनका आस्वादन करने के लिए नाम-गुण-गान करते हैं। इन उपलब्धियों की अभिव्यक्ति अगर न हो, तो साधारण लोगों के लिए ईश्वर को जानने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उनके अन्तर का आनन्द यदि बाहर प्रकट न हो, तो साधारण मनुष्य उस आनन्द का अनुमान तक नहीं कर पाता।

ठाकुर कहते हैं, "वे ही सब कुछ हुए हैं। परन्तु मनुष्य में उनका प्रकाश अधिक है।" मनुष्य में चैतन्य की खूब स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। फिर मनुष्यों में भी शुद्धसत्त्व लोगों में उनका प्रकाश और भी अधिक स्पष्ट है। इसीलिए ज्ञानी को भगवान ने आत्मस्वरूप कहा है।

अधर सेन अपने मित्र सारदाचरण को लेकर आये हैं। मित्र के बच्चे की मृत्यु हो गयी है। अधर ने ठाकुर को उनके पुत्रशोक का हाल बताया। ठाकुर मन-ही-मन गाने लगे – **जीव, समर को सज्जित हो जा, मत रह पड़ा निढाल। तेरे घर में घुसा आ रहा, रण करने को काल॥** यह संसार युद्धक्षेत्र है, योद्धा के रूप में काल आया है। उससे युद्ध करना होगा। अवश्यम्भावी मृत्यु को हम लोग भूले रहते हैं, इसलिए जब वह आता है तो पैर जमाकर उसका सामना करने की क्षमता हममें नहीं रहती। ज्ञान-भक्ति की सहायता से स्वयं को दृढ़ करना होगा, अपना स्वरूप जानकर उस पर विजय पाना होगा। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है। काल घर में घुस रहा है, भगवान के नाम-रूप का अस्त्र लेकर युद्ध करना होगा। पहले युद्ध करने के लिए

कहा, फिर बोले, "जैसा कराते हो, वैसा ही करता हूँ; जैसा कहलाते हो, वैसा ही कहता हूँ, उन्हें आम-मुख्तारी दे दो।"

पूर्ण शरणागति का बोध रहने पर युद्ध नहीं करना पड़ेगा। जब तक मैं है, तब तक युद्ध है। ठाकुर ने पुत्रशोक से कातर उनको केवल उपदेश ही नहीं दिया। उनके दुःख को ठाकुर ने स्पर्श किया है, इसीलिए कहते हैं, "अजी, शोक भला क्यों नहीं होगा?" वे सहानुभूति-सम्पन्न हैं – सामान्य मनुष्य के दुःख ने उन्हें स्पर्श किया है। मनुष्य फिर क्या करे? क्या हताशा में डूब मरे? इसके बाद ठाकुर कहते हैं, "यह सब अनित्य है। गृह, परिवार, सन्तान – सब दो दिन के लिए हैं।" संसार की अनित्यता का बोध हो जाने पर फिर दुःख नहीं रह जाता। जगत शब्द का अर्थ है – जो चला जाय, नश्वर हो। जो अवश्यम्भावी है, उसके लिए खेद करने से क्या होगा?

ईश्वर तीन काम करते हैं – सृष्टि, स्थिति और प्रलय। मृत्यु तो निश्चित ही है। प्रलय के समय जब सब ध्वंश हो जाता है, तब माँ केवल सृष्टि के बीजों को चुनकर नयी सृष्टि के लिए रख लेती हैं। हम एक छोटी-सी सीमा में आबद्ध हैं, इसीलिए इस सीमा के भीतर कुछ खो बैठने पर हम अधीर हो उठते हैं। पूरे विश्व में कुछ भी नहीं रह जायगा। यह विश्व एक बुलबुले की तरह है, उससे अधिक स्थायी नहीं है। जल से एक बुलबुला उठता है और थोड़ी देर रह कर ही नष्ट हो जाता है। यह जगत भी मानो एक अनन्त काल का एक बुलबुला है, दो-चार दिन के लिए उठा है, फिर उसी में लय हो जायगा। यह बात हम सोच नहीं पाते। मनुष्य तिनके के समान काल के प्रवाह में बहता चला जा रहा है। कभी दो-चार तिनके साथ हो जाते हैं, फिर थोड़ी देर बाद ही सब अलग अलग होकर इधर-उधर निकल जाते हैं। हम तिनके की तरह बहे जा रहे हैं, फिर भी सुखस्वप्न देखते हैं! अलग हो जाने पर भी फिर मिलेंगे – इस कल्पना के द्वारा दुःख को भुलाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु यह पार जाने का रास्ता नहीं है। अनित्य को अनित्य के रूप में स्वीकार कर लेना और वस्तु को ही वास्तविक मानकर चलना – यही उपाय है। वासना का पूर्ण रूप से त्याग कर पाने से, 'मैं-मेरा' बुद्धि का त्याग कर पाने से, अपनी छोटी-सी सीमा को तोड़ पाने से फिर कोई दुःख नहीं रह जाता। "अनित्य जगत अनित्य ही रहेगा, उससे हमारी कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होगी।" इस भाव को दृढ़ बनाकर मनुष्य यदि उसी भाव में आत्मस्थ हो सके, तो फिर उसको किसी बात का भय नहीं रहता। वह मृत्यु को जीत लेता है, नित्य-शाश्वत और अजर-अमर हो जाता है। मनुष्य जब जान लेगा कि वह

अमर है, तब मृत्यु उस पर आधिपत्य नहीं कर सकेगी। **तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** – उन्हें जानकर ही मनुष्य मृत्यु को पार कर सकता है; इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

अधर सेन और सांसारिक आकर्षण

श्रीरामकृष्ण अधर के साथ अपने कमरे के उत्तरी बरामदे में खड़े होकर बातचीत कर रहे हैं। उनसे ठाकुर का परिचय अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ है। यह उनकी दूसरी मुलाकात है। डेढ़ वर्ष बाद ही अधर की मृत्यु हो गयी। ठाकुर मानो उनके भविष्य को देखकर ही उपदेश दे रहे हैं, "संसार कर्मभूमि है। यहाँ कर्म करने के लिए आना हुआ है। जैसे देहात में घर है और कलकत्ते में काम करने आया जाता है। कुछ काम करना आवश्यक है। यह साधन है। जल्दी जल्दी सब काम समाप्त कर लेना चाहिए।"

अधर सेन डिप्टी हैं। उनको विशेष रूप से यांद दिला देते हैं कि ईश्वर के अनुग्रह से ही यह पद उन्हें मिला है। मान-ऐश्वर्य पाकर कहीं हम उन्हें भूल न जायँ। 'दो दिन के लिए ही इस संसार में आना हुआ है' – ठाकुर संसार की इस अनित्यता का भाव मानो अधर के मन में अंकित कर देने के लिए ये बातें कह रहे हैं। हमें स्मरण रखना होगा कि इस संसार में हम स्थायी रूप से रहने के लिए नहीं आये हैं। ईश्वरप्राप्ति के लिए यह मानव-देह मिला है; जिस उद्देश्य से हम आए हैं, वह यदि पूरा नहीं हुआ, तो यह देहधारण व्यर्थ है। साधना करना अत्यन्त आवश्यक है। 'हो रहा है, हो जायगा' या 'कर रहा हूँ, करूँगा' – कहकर टालने से काम नहीं चलेगा। इस जीवन का उद्देश्य है भगवान को पाना; इसे ध्यान में रखकर काम करने की आवश्यकता है। सुनार जैसे सोना गलाते समय सभी उपायों का सहारा लेता है, ताकि आग खूब तेज हो और सोना जल्दी गल जाय। उसके पहले तो उसे तम्बाकू पीने की भी फुर्सत नहीं रहती। ठीक उसी तरह हमें भी पहले भगवान को पा लेना होगा। ठाकुर ने अन्यत्र कहा है – एक कमरे में सोना रखा हुआ है। बीच में एक दीवाल की बाधा है। जो चोर होगा वह क्या निश्चिन्त होकर बैठा रहेगा, या फिर प्राणपण से चेष्टा करेगा कि किस तरह से वह दीवाल तोड़कर सोना प्राप्त कर सके। हम लोगों ने जब यह मानवदेह धारण करके उनके चिन्तन का सुयोग पाया है, तो जल्दी-से-जल्दी यथासाध्य इसका सदुपयोग कर लेना होगा। इस काम को पूरा करने के लिए हममें व्याकुलता हो, प्राणों में विकलता हो। इसके स्थान पर यदि

हम आलस्य में पड़े रहकर सोचें कि इतनी जल्दी क्या है, तो फिर काम कभी पूरा नहीं होगा। ठाकुर कहते हैं, "खूब जिद चाहिए, तभी साधना होती है। दृढ़ प्रतिज्ञा होनी चाहिए।"

संसार में तरह तरह के आकर्षण भरे पड़े हैं, इसलिए खूब दृढ़तापूर्वक सावधान रहना पड़ता है। उनके नाम में बड़ी शक्ति है, उससे अविद्या का नाश होता है। त्यागियों के लिए उतना डर नहीं है, वे लोग भोग की वस्तुओं से दूर हैं। किन्तु केवल भोग की वस्तुओं से दूर रहने से नहीं होता। ठाकुर आगे कहते हैं, "यथार्थ त्यागी कामिनी-कांचन से अलग रहता है। इसलिए साधना रहे तो मन को सदा ईश्वर में लगाये रख सकता है।" इसलिए 'साधना रहे' शब्द को याद रखना होगा। कभी कभी कुछ लोगों का जीवन देखकर ऐसा नहीं लगता कि वे भोगों में डूबे हुए हैं, तो भी उनका जीवन मानो अर्थहीन गतानुगतिक रूप से चला जा रहा है। इसीलिए उन्हें त्याग का फल नहीं मिलता, इसीलिए साधना की विशेष आवश्यकता है। केवल त्याग मनुष्य को सिद्धि नहीं प्रदान कर सकता। त्याग केवल उपाय मात्र है, उद्देश्य नहीं। इस उपाय का सहारा लेकर ईश्वर में मन लगाना होगा। जो त्याग मन को भगवान की ओर ले जाने में सहायता न करे, उस त्याग की कोई सार्थकता नहीं। त्याग के साथ साथ साधना की भी आवश्यकता है। देखना होगा कि त्याग के साथ ही भगवान के प्रति अनुराग बढ़ रहा है या नहीं। नहीं तो केवल त्याग अर्थहीन है।

ईश्वरीय अनुराग

वैराग्य के सम्बन्ध में ठाकुर ने कहा है – विषयों से विराग और ईश्वर से अनुराग। विषयों से वितृष्णा कई कारणों से हो जाती है। कोई आघात पाकर अथवा भोग की वस्तु पहुँच से बाहर होने पर कई बार हम उससे दूर रहते हैं। परन्तु उसके द्वारा भगवान के प्रति अनुराग नहीं उत्पन्न होता। भगवान से अनुराग हुए बिना यथार्थ वैराग्य नहीं होता। ठाकुर ने अन्यत्र मर्कट-वैराग्य की बात कही है। बाहर से देखने पर लगता है कि वैराग्य हो गया है, परन्तु वह वास्तविक वैराग्य नहीं है। मान लो किसी व्यक्ति को कहीं नौकरी नहीं मिल रही है। निराश होकर वह काशी चला गया। वहाँ एक स्थान पर उसे नौकरी मिल गयी और तब उसका वैराग्य दूर हो गया। यह मर्कट-वैराग्य का रूप है। जो सच्चा त्यागी है, उसका मन कभी विषयों में आसक्त नहीं होता। जो लोग संसार में कामिनी-कांचन के बीच रहते हैं, उनका मन कभी ईश्वर की ओर जाता है, तो कभी कामिनी-कांचन की ओर। कभी कभी तो

वह बडे सुन्दर ढँग से भगवान की बातें सोचता है, फिर कभी उसका मन विषयों की ओर चला जाता है। जैसे मक्खी विष्ठा पर बैठती है, सड़े घाव भी बैठती है और कभी मिठाई पर भी बैठती है। साधारण मनुष्य का मन इसी तरह का है। परन्तु मधुमक्खी केवल फूल पर बैठकर मधुपान करती है अर्थात सच्चे त्यागी का मन सदा ईश्वर में रहता है। मन को सदा ईश्वर में लगाये रखना होगा। इसीलिए पहले थोड़ी जिद करके मेहनत कर लेनी होगी। साधना चाहिए। भोगोन्मुखता तो स्वाभाविक रूप से ही बनी हुई है, ऊपर से मन में विषय के प्रति प्रबल आकर्षण भी है, इसलिए मन को विषय से दूर रखना होगा।

तन्त्र में तीन प्रकार की साधनाएँ बतायी गयी हैं – पशुभाव, वीरभाव तथा देवभाव। यहाँ पशु का अर्थ गाय, बकरी आदि नहीं, बल्कि है इन्द्रियों का दास। साधारण जीव, साधारण मनुष्य 'पशुभाव की साधना' का अवलम्बन करेंगे। साधारण व्यक्ति को प्रलोभक वस्तुओं से दूर रहना ही उचित है, अन्यथा वह वस्तु मन को कब खींच लेगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं। उनसे युद्ध करना बड़ा कठिन है; कभी कर पाता है, तो कभी नहीं कर पाता – ऐसी तो उसकी अवस्था है। इसीलिए दूर रहने को कहा गया। वीरभाव का साधक प्रलोभन की वस्तुओं से दूर नहीं जाता, वह उस प्रवृत्ति से लड़ता है, इसीलिए उसे 'वीर' कहा जाता है। वीर साधक प्रलोभन के बीच रहकर भी प्रलोभित हुए बिना युद्ध करता रहता है। उसे अपनी वीरता में आस्था है। वह संग्राम करते हुए अपने पथ पर आगे बढ़ता है। देवभाव के साधक का मन देवभावापन्न होने के कारण प्रलोभन से बाहर अथवा भीतर रहते हुए भी सदा ही ईश्वर में लगा रहता है। भोग्य वस्तुओं की ओर इनका मन कभी आकृष्ट ही नहीं होता। यही देवभाव है। यह साधारण लोगों के वश की बात नहीं है। इस तरह के लोग संसार में अत्यन्त विरल हैं। इनका मन सांसारिक विषयों तथा इन्द्रियों के आनन्द से आकृष्ट नहीं होता। वीरभाव के उपयुक्त साधक बहुत कम हैं। तन्त्र में मुख्यतः पशुभाव को ही सामान्य जन का पथ बताया गया है। अपने ऊपर अति विश्वास करके हमें वीरभाव की साधना में नहीं लग जाना चाहिए, क्योंकि याद रहे – उस पथ पर पतन की बड़ी आशंका है।

☆ ☆ ☆

एक विनम्र आवेदन

रामकृष्ण आश्रम
किसनपुर, देहरादून - २४८ ००९

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

उत्तरी भारत के अपनी भारत-परिक्रमा के दौरान स्वामी विवेकानन्द का हिमालय की गोद में स्थित देहरादून में भी शुभागमन हुआ था। १९१६ ई. में देहरादून शहर से ६ की. मी. उत्तर में मसूरी के मार्ग पर मनोरम प्राकृतिक दृश्यावली के बीच रामकृष्ण मठ/मिशन (बेलूड़ मठ) की एक शाखा की स्थापित हुई, जो पिछले अस्सी वर्षों से साधु-भक्तों के द्वारा निर्जन साधना के एक केन्द्र के रूप में उपयोग में आ रही है। इसमें स्थानीय जनता की सेवा हेतु एक होम्योपैथी तथा एलोपैथी दातव्य चिकित्सालय के साथ ही एक पाठागर भी कार्यरत है।

आश्रम में स्थित छोटे-से मन्दिर को केन्द्र बनाकर प्रतिदिन पूजा, प्रार्थना, भजन आदि के साथ ही विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान और विशेष तिथियों पर रामनाम-संकीर्तन और श्रीरामकृष्ण, माँ श्री सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव भी मनाये जाते हैं।

इसी बीच एक सार्वभौमिक प्रार्थनागृह बनाने हेतु आश्रम से लगी हुई एक जमीन उत्तर प्रदेश सरकार के अनुग्रह से प्राप्त हुई। इसी परिकल्पना को साकार रूप देने के लिए १९८८ ई, में वहाँ श्रीरामकृष्ण के मन्दिर का निर्माण करने की योजना बनायी गयी और १८ नवम्बर को जगद्धात्री पूजा के दिन संघ के ग्यारहवें अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज ने मन्दिर की आधारशिला रखी। इसके बाद श्रीरामकृष्ण के एक भावानुरागी भक्त के आन्तरिक आग्रह तथा आर्थिक सहायता से शीघ्र ही मन्दिर के निर्माण का कार्य भी आरम्भ हो गया। परन्तु इस मन्दिर को पूरा करने के लिए और भी ५० लाख रुपयों की आवश्यकता है।

आप सबसे हार्दिक अनुरोध है कि इस कार्य में यथासम्भव योगदान करके इस निर्माण को पूरा करने में सहयता करें। दान की राशि एकाउण्ट पेयी चेक, ड्राफ्ट या मनिआर्डर के द्वारा 'Ramakrishna Ashrama, Dehra Dun' — के नाम से भेजें। आपका बहुमूल्य दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायगा। यह दान भारतीय आयकर अधिनियम ८०जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होगा।

स्वामी आत्मविदानन्द
अध्यक्ष

विवरण के लिए सम्पर्क करें —
President, Ramakrishna Ashrama, Kishanpur,
Dehra Dun – 248 009; Phone : 0135-684355

मानस-रोग (२७/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित विवेकानन्द जयन्ती के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत मानस-रोग प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनमें से सत्ताइसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

भगवान शंकर का स्वरूप क्या है ? वे इन मर्यादाओं से पूरी तरह मुक्त हैं। क्यों ? इसलिए कि मर्यादा की आवश्यकता वहीं होती है, जहाँ भेद है। जहाँ केवल 'मैं' ही 'मैं' है, दूसरा कोई है ही नहीं, वहाँ मर्यादा किससे ? शिव नग्न हैं, इसका अर्थ क्या है ? अब इसे दूसरी दृष्टि से देखिए। दैत्य तो भगवान शंकर की नग्नता देखकर बड़े प्रसन्न होते हैं। उन्हें लगता है कि यही तो हमारे जीवन का आदर्श है। शिव की नग्नता का अर्थ उन्होंने लिया मर्यादाविहीन उच्छृंखल जीवन, अमर्यादित और निरंकुश जीवन, इसे ही उन्होंने शिव का आदर्श समझ लिया और यही आदर्श उन्हें अपने जीवन के लिए अच्छा लगा। किन्तु शिव की नग्नता का वास्तविक तात्पर्य क्या है ? भगवान शिव को लगता है कि जब मुझे छोड़कर कोई है ही नहीं, तो मैं किससे छिपाऊँ, अपने आपको ढँककर किससे पृथक करूँ, मुझे भला किससे लज्जा, किससे भय ? अभिप्राय यह है कि व्यक्ति स्वयं अपने सामने नग्न होता है या नहीं ? अगर कोई इतना अधिक मर्यादावादी हो कि वह स्वयं अपने सामने भी नग्न न होता हो, नहाते समय भी कपड़े न उतारता हो, तो अब उस मर्यादा के लिए उसे क्या कहें ? जब हम स्नान करते हैं, अपने शरीर को स्वच्छ करते हैं, तब तो अपने वस्त्र उतारने में संकोच नहीं करते। एकान्त में वस्त्र उतारने में हमें संकोच नहीं होता। भगवान शिव का भाव क्या है ? यह एकान्त का भाव है, अद्वैत की वृत्ति है, जहाँ दूसरा कोई है ही नहीं। परन्तु दैत्य इसे उच्छृंखलता के अर्थ में लेते हैं।

दूसरी ओर हैं दक्ष, अतिमर्यादावादी। वे जब शिव के जीवन को, शिव के चरित्र को देखते हैं, तो उन्हें भी शिव में उच्छृंखलता तथा मर्यादा का उल्लंघन ही दिखाई देता है। उन्हें लगता है कि शिव का यह आचरण समाज के लिए बड़ा घातक है। यह समाज की मर्यादाओं को नष्ट कर देगा। मैं प्रजापति हूँ। प्रजापति का कर्तव्य है कि वह समाज में मर्यादा बनाये रखे। इसलिए दक्ष में मर्यादा का अतिरेक दिखाई देता है। ब्रह्मा की सभा में दक्ष के आने पर उनके स्वागत में सब खड़े हो गये, किन्तु

शंकरजी बैठे रह गये । यह देखकर उन्होंने शंकरजी की बड़े कठोर शब्दों में भर्त्सना की । उनका अभिप्राय था कि सभा की एक मर्यादा होती है और सभा में उपस्थित लोगों को उस मर्यादा का पालन करना चाहिए। किन्तु दक्ष की भर्त्सना सुनकर भगवान शंकर को रंचमात्र भी दुःख नहीं हुआ । दुःख होता भी क्यों ? उन्हें तो हँसी आ गई।

इस सन्दर्भ में मुझे एक बात याद आ रही है। एक बड़े प्रसिद्ध संत थे। उनके चरणों में रहने का मुझे अवसर मिला । एक बार किसी सभा में उन्हें आमंत्रित किया गया था । वहाँ एक दूसरे महात्मा उनकी निन्दा करने लगे । उन महात्मा की धारणा थी कि ये मर्यादाओं का ठीक-ठीक पालन नहीं करते या मर्यादाओं का उस तरह समर्थन नहीं करते, जैसा मर्यादावादी करते हैं। इस तरह जब वे मर्यादावादी महात्मा इन संत की आलोचना करने लगे, तो वही बात हुई जो ब्रह्माजी की सभा में हुई थी । शंकरजी तो मुस्कुराते हुए चले गये, लेकिन सेवक इतने उदार नहीं होते । वे तो अपने स्वामी की निन्दा सुनकर उसे सहन करने में समर्थ नहीं होते । यहाँ भी वही हुआ । संत के जो सेवक वहाँ उपस्थित थे, उन्होंने कहा कि आप आज्ञा दें तो इसका मुँहतोड़ जवाब दिया जाय । संत ने मुस्कराकर पूछा – क्या हुआ ? उन्होंने कहा – भरी सभा में ये आपकी निन्दा कर रहे हैं। संत ने पूछा – किसकी निन्दा ? शरीर की या आत्मा की ? अगर शरीर की निन्दा हो रही है, तो शरीर तो निन्दनीय है ही । उसकी निन्दा तो सर्वत्र होती ही है, शास्त्रों में भी और प्रवचनों में भी । शरीर की अनित्यता की बात तो मैं भी कहता हूँ । मैं भी तो सदा उसकी निन्दा करते रहता हूँ । वे भी अगर शरीर की निन्दा कर रहे हैं, तो इसमें दुख की क्या बात है ? अब अगर तुम यह कहते हो कि वे आत्मा की निन्दा कर रहे हैं, तो उनकी और मेरी दो अलग अलग आत्माएँ तो हैं नहीं। इस तरह जो अपनी ही निन्दा कर रहा है, उसकी तो प्रशंसा करना चाहिए कि वे कितने विनम्र हैं, अपनी ही निन्दा करने में उन्हें कोई संकोच नहीं हो रहा है।

यदि कोई आत्मा की निन्दा करता है तो वह अपनी ही निन्दा करता है । यह अद्वैत वृत्ति ही मुख्य वृत्ति है, व्यापक वृत्ति है । जहाँ इसकी समग्रता है वहाँ कहाँ मर्यादा, कैसी मर्यादा ? भगवान शंकर के गले में जो मुण्डमाल है, शरीर पर चिताभस्म है, यह क्या है ? यह जीवन का सत्य है । भक्त जब भगवान शिव को देखते हैं, तो उन्हें संसार की अनित्यता दिखाई देती है, उनके अन्तःकरण में सत्य की अनुभूति होती है और भगवान शंकर से उन्हें वैराग्य की प्रेरणा मिलती है । असुरों तथा असद्वृत्ति वालों को उनसे उच्छृंखलता की प्रेरणा मिलती है और भक्तों तथा सद्वृत्ति वालों को उन्हीं से वैराग्य की प्रेरणा मिलती है । शिव जीवन के समग्र सत्य है। जीवन का सत्य केवल जीवन ही नहीं, मृत्यु भी है । किन्तु जीवन के इस दूसरे पक्ष को देखने से व्यक्ति डरता है, उस ओर से आँखें बन्द कर लेना चाहता है, छिपना और छिपाना चाहता

है। कोई बच्चा भी अगर खेल खेल में मृत्यु का नाम ले बैठे, तो माताएँ उसका मुँह बन्द कर देती हैं कि ऐसी बातें मुँह से नहीं निकालते। हम लोग मृत्यु शब्द को कान में नहीं पड़ने देना चाहते। लेकिन भगवान शंकर तो दूल्हे के वेश में भी गये, तो उनका वेश इतना अनोखा था कि उन्हें देखकर स्त्रियाँ-बच्चे सब भयभीत होकर भाग खड़े हुए। गले में नरमुण्डों की माला अंगों पर चिताभस्म ! मैना तो दूल्हे के इस रूप को देखकर बड़ी दुखी हुई। कहने लगीं – मैंने तो उमा से पहले ही कहा था कि ऐसा वर ढूँढ़ना जिसमें कम-से-कम तीन गुण हों –

जौं घरु बरु कुलु होई अनूपा।
करिय बिबाहु सुता अनुरूपा ।१/७०/३

– वर अति सुन्दर हो, घर सुन्दर हो और कुल सुन्दर हो। पर यहाँ तो सब विपरीत है। कठोर रूद्र वेश, अंगों में सर्प लिपटे हुए हैं। कैसा विचित्र वर है, विवाह कराने आया, तो बैल पर ही बैठकर चला आया। भाई, जिनके पास अच्छा वाहन नहीं होता, वह भी तो कम-से-कम विवाह के दिन किसी से अच्छा वाहन माँग लेता है, किराये पर ले आता है। भगवान शंकर के इतने मित्र थे, किसी देवता से वाहन माँग लेते, एक दिन के लिए सवारी बदल लेते। शंकरजी से कहा भी गया – महाराज, वर तो सुन्दर वाहन पर बैठता है, आप भी बैठिए। शंकरजी ने हँसकर कहा – वाहन पर बैठकर जो वरत्व प्राप्त होगा, वह तो वाहन के जाते ही समाप्त भी हो जायगा। संसार के दूल्हे तो विचारे एक दिन के लिए होते हैं, उस दिन वे बढ़िया कपड़ा पहनते हैं, बढ़िया वाहन पर बैठते हैं और दूसरे दिन फिर जहाँ के तहाँ ! उनका वरत्व दूसरे दिन ही समाप्त हो जाता है। किन्तु हमारा वरत्व तो बाहरी वस्त्र, आभूषण या वाहन से नहीं है। वरत्व तो हमारा स्वरूप है, यह तो शाश्वत वरत्व है। बहिरंग वस्तु से क्या आत्मतत्व की महिमा बढ़ेगी ? इससे तो वरत्व घटने की ही सम्भावना है।

वर के रूप को देखने के बाद जब पूछा गया कि घर कैसा है, तो पता चला कि श्मशान में रहते हैं। कन्या ने अपने लिए कैसा अनोखा वर ढूँढ़ा ! भला ऐसा भी कोई व्यक्ति करता है ? जिस श्मशान में जाने से दुनिया डरती है, उसे ही जिसने घर बना लिया हो, कैसा विचित्र व्यक्ति होगा वह ? इसीलिए तो गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में वन्दना करते हुए कहा –

गिरिजा-मन-मानस मराल कासीस मसान निवासी। (विन.९)

कैसी सांकेतिक भाषा है! कहते हैं, पार्वती के मानस के आप मराल हैं, और साथ ही यह भी कहते हैं कि आप काशी के अधीश्वर हैं। फिर कहते हैं कि आप श्मशान के निवासी हैं। श्मशान में भी रहते हैं और पार्वती के हृदय में भी रहते हैं। कितनी

विलक्षण बात है – प्रिया के हृदय में, संसार की पराकाष्ठा और साथ-ही-साथ श्मशान में भी। इसका अभिप्राय यह है कि शिव साक्षात् ज्ञान के देवता हैं और व्यक्ति को अद्वैत का ज्ञान देने के साथ ही सृष्टि के मिथ्यात्व को भी व्यक्ति के हृदय में स्पष्ट रूप से प्रगट कर देते हैं। वे यह बता देते हैं कि जीवन में मृत्यु से भागने की आवश्यकता नहीं है, उसका स्वागत करो। लेकिन भगवान शंकर का स्वागत तो उनके ससुराल में ऐसा हुआ कि मैना सोने की थाली में आरती सजाकर लाईं और भगवान शंकर को देखते ही उसे पटककर लौट गईं। देवताओं ने कहा – महाराज, लौट चलिए। जिस घर में आपका इतना बड़ा अपमान हुआ, उस घर में अब क्या आप विवाह करेंगे ? भगवान शंकर हँसने लगे। उन्हें तो अपमान की अनुभूति हुई ही नहीं। यही शिव की पूर्णता है। अगर संसार के साधारण दूल्हे हों, तब तो रूठकर चले जायँ, लेकिन जब स्वागत नहीं हुआ, अपमान हो गया, तब देवताओं ने पूछा – महाराज, अब कहाँ चलें ? भगवान शंकर ने हँसते हुए कहा – वहीं, जहाँ जनवासा है। वहीं चलकर बैठना ठीक रहेगा। – कब तक ? बोले – जब तक नहीं बुलायेंगे, तब तक हम जनवासे में बैठे रहेंगे। ये स्वागत नहीं कर रहे हैं। इसमें इनकी भी क्या गल्ती है, ये तो बुद्धिभ्रम से सत्य को न समझ पाने के कारण ही ऐसा कर रहे हैं। भ्रान्तिवश व्यक्ति अगर ऐसा कुछ कर बैठे, तो उसमें अपना अपमान समझ लेना उचित नहीं है। जब वे सत्य को जान लेंगे। तब उनकी भ्रान्ति का स्वयं ही विनाश हो जायगा।

नारद और सप्तर्षि आकर भ्रम का निवारण करते हैं। इसे हम यों कह सकते हैं कि शिव का यह जो स्वरूप है, जो सत्य है, उसका हम क्या अर्थ लेते हैं, क्या प्रेरणा लेते हैं, यह बड़े महत्व की बात है। हम शिव का अर्थ वैराग्य लेते हैं या उच्छृंखलता, अद्वैत लेते हैं या द्वैत, मर्यादा का उल्लंघन लेते हैं या परम मुक्ति। उच्छृंखलता और मुक्ति बड़े निकट के तत्व हैं। मुक्ति में भी कोई बन्धन नहीं है और उच्छृंखलता में भी। अब शिवजी की अवस्था उच्छृंखलता है या मुक्ति ? दैत्य इसका अर्थ लेते हैं उच्छृंखलता और साधक लेते हैं मुक्ति। सच्चा साधक शिव के स्वरूप को अद्वैत की अवस्था समझता है, जहाँ व्यक्ति की क्षुद्र अहंता तथा ममता की द्वैत मिट जाती है और वह मुक्त हो जाता है। यही शिव का यथार्थ स्वरूप है। किन्तु भगवान शिव के सम्बन्ध में दैत्यों अथवा दैत्यवृत्ति वालों की जो धारणा है, उनकी जो दृष्टि है, वे भगवान शिव के स्वरूप से जो प्रेरणा लेते हैं, वह भी बड़ा विलक्षण है।

एक चोर चोरी करने जा रहा है। वह पहले भगवान शंकर की पूजा करता है, प्रार्थना करता है कि हमें कोई पकड़ न सके, हमारी रक्षा करना। उसके मन में भगवान शंकर के सम्बन्ध में यही धारणा तो होगी कि ये चोरी करने में मदद करेंगे, पुलिस से हमारी रक्षा करेंगे। जब वे चोरी करने में सफल हो जाते हैं, तब तब उनकी यह

धारणा और भी सुदृढ़ हो जाती है कि शिवजी मुझ पर प्रसन्न हैं। मेरा यह काम उन्हें अच्छा लगता है, तभी तो वे मेरे अनुकूल हैं। इसलिए लोग चाहे जो कहें, चोरी करना बुरा काम नहीं है। इसमें मुझे भगवान शंकर का समर्थन और सहायता प्राप्त है।

कभी कभी अखबार में पढ़ने को मिलता है कि अमुक डाकू डाका डालने से पहले अमुक देवी या देवता की पूजा करता है। पढ़नेवाले गद्‌गद हो जाते हैं – वाह, डाकू होते हुए भी उसकी देवी-देवता पर कितनी भक्ति है। उस पर शंकरजी की कृपा है, तभी तो कोई उसका बाल भी बाँका नहीं कर पाता, उसे कोई पकड़ नहीं सकता। तो क्या यही देवी-देवता की प्रसन्नता का लक्षण है, या फिर क्या यही भक्ति का लक्षण है ? हनुमानजी को और शंकरजी को क्या अब यही काम रह गया है कि कोई डाका डाले और वे उनकी सहायता करें ? इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि दैत्य अहं का पुजारी होता है। इसे हम संक्षिप्त में यों कहें कि ये दो वृत्तियाँ हैं – एक क्षणिक और दूसरी स्थायी। जैसे सुरा और दूध। दूध पौष्टिक है और सुरा स्फूर्ति तथा उत्तेजना प्रदान करती है। देव-दर्शन मानो दूध है और दैत्य-दर्शन सुरा के समान है। दैत्य के जीवन में 'अहं' की प्रधानता है। अहं के लिए एक शब्द और है 'मद' और मद का अर्थ सुरा भी है। इसलिए दैत्य-दर्शन सुरा के समान है। अब अगर एक व्यक्ति को एक गिलास दूध दिया जाय तथा दूसरे व्यक्ति को एक गिलास सुरा और दोनों पी लें, तो तत्काल असर किस पर होगा ? सुरा पीनेवाला ही तत्काल मतवाला हो उठेगा। उसे तुरन्त स्फूर्ति की अनुभूति होगी। बड़ी स्वाभाविक बात है कि दूध पीने से तो ऐसा नहीं होता। दूध का परिणाम तो बड़ा दूरगामी होता है, तत्काल तो कुछ पता नहीं चलता। इसीलिए लोग जो इतनी बड़ी संख्या में शराब पीते हैं, उनमें इसी तात्कालिक स्फूर्ति को पाने की वृत्ति है, किन्तु यह स्फूर्ति क्षणिक तथा नकली होती है और थोड़ी देर में एक गहरा अवसाद देकर चली जाती है। इसी तरह 'अहं' एक नकली स्फूर्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन में नकली सफलता पाने की नकली प्रेरणा प्राप्त करता है और प्रसन्न होता है, समाज में सफलता प्राप्त करने को उत्साहित होता है। एक सज्जन से पूछा गया – आप शराब क्यों पीते हैं ? कहने लगे – बिना पिये मुझसे बोला नहीं जाता और पीते ही मेरी वाग्धारा खुल जाती है। केवल शराब के सम्बन्ध में ही नहीं, कुछ लोग तो यह मानकर चलते हैं कि सफलता का मूलमन्त्र ही 'अहं' है और यह 'अहं' भी मद ही है। वे कहते हैं कि जीवन में सफलता पाने के लिए 'मैं' का सुरा पीजिए। कोई-न-कोई नशा होना ही चाहिए।

'मैं' का नशा होगा, तो जीवन में सफलता-ही-सफलता मिलेगी। दिखाई भी देता है कि लोग अपने जीवन में 'मैं' को पाल लेते हैं और इस 'मैं' के द्वारा बड़े-बड़े काम कर रहे हैं। दैत्य-दर्शन भी यही है। दैत्य यही तो कहता है कि हम शिव

के उपासक हैं, 'मैं' के उपासक हैं। हम देवताओं की तरह प्रतीक्षा क्यों करें ? हममें पुरुषार्थ है, शक्ति है। हम क्यों यज्ञ करते बैठे रहेंगे, सीधा आक्रमण करके छीन लेंगे। पुराणों में समुद्र-मन्थन के प्रसंग में एक तात्त्विक गाथा है। देवता और दैत्य अमृत पाने के लिए समुद्र का मन्थन करते हैं। लेकिन जब अमृत मिला, तो उसका बँटवारा बड़ा विचित्र हुआ। अमृत का पात्र तो एक ही था, पर इस पात्र से एक ओर दैत्यों के लिए सुरा और देवताओं के लिए अमृत गिर रहा था। इसका तात्त्विक तात्पर्य यह है कि एक ओर ज्ञान का अमृत है और दूसरी ओर अभिमान की सुरा। इन दोनों के बीच बस दैत्य और दैववृत्ति का ही अन्तर है। जो ज्ञान का अमृत पी रहे हैं, वे देवताओं की पंक्ति में बैठे हुए हैं और जो अभिमान, पद, धन, बुद्धिमत्ता, जाति, आदि के रूप में किसी-न-किसी प्रकार की मदिरा पीकर उन्मत्त हो रहे हैं, वे दैत्यों की पंक्ति में बैठे हैं। यही दैत्यवृत्ति है।

शिव हैं समष्टि अहंकार। इस तत्त्व को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण ही शिव के स्वरूप के बारे में भ्रान्त धारणा बन जाती है। शिव में द्वैत नहीं है, भेद नहीं है, राग नहीं है। शिव के इस स्वरूप को मैना और हिमाचल जब ठीक से समझ लेते हैं, तब पार्वती को अर्पित करके प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। और इन शब्दों में भगवान शंकर की अर्चना करते हैं –

नाथ उमा मम प्रान सम गृहकिंकरी करेहु।
तुमहुं सकल अपराध अब होई प्रसन्न बरु देहु॥ १/१०१

दूसरी ओर रावण भी शंकर का पुजारी है। किन्तु वह भगवान शिव के इस स्वरूप को किस दृष्टि से देखता है, क्या अर्थ लेता है ? रावण की धारणा है कि शिव जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं और जो भी माँगो, वही वर दे देते हैं। यह तो रावण की बुद्धि है, किन्तु शंकरजी क्या कहते हैं ? गोस्वामीजी कहते हैं कि शंकरजी जब प्रसन्न हो जाते हैं, तो पहले ही कह देते हैं – भाई, मुझसे माँगना, तो कम मत माँगना –

नागो फिरै कहै मागनो देखि 'नखाँगो कछू' जनि मागिये थोरो। (कविता. उत्तर.)

– मेरे पास कमी नहीं है, थोड़ा मत माँगना। इसका अभिप्राय क्या है ? बेचारे जो दरिद्र वृत्तिवाले हैं, उनको लगता होगा कि हजार रुपये कम हैं, तो लाख माँग लें। इसे ही वह बहुत समझता है। अरे भाई, रामायण में तो यहाँ तक कहा गया कि स्वर्ग माँगना भी थोड़ा है। भगवान शिव का तात्पर्य है कि मुझे पाने के बाद अगर कोई भगवतत्त्व को पा ले, तो यही पाने की सार्थकता है। किन्तु मुझे पाने के बाद भी अगर कोई वह पाने से वंचित रह गया, तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य भला और क्या होगा ? मुझे पाकर भी अगर कोई ऐसी वस्तुओं की माँग कर बैठे, जो अनित्य हैं,

जिसे कोई भी अपने ही प्रयास से या अन्य उपायों से पा सकता है तथा जिसे पाने के साथ खोना भी अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, ऐसी वस्तु मुझसे माँगने में क्या सार्थकता है ? रावण शिव से कुछ माँगना चाहता है, इसलिए वह शिव को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। वह उनको प्रसन्न करने के लिए करता क्या है ? उनके सामने अपना सिर काट देता है। भगवान शंकर तो बड़े अनोखे हैं। वे तो सिर काटने की कला में बड़े निपुण हैं। ब्रह्मा के पाँच सिर थे, उनका एक सिर काट दिया था। शंकरजी के श्वसुर दक्ष का सिर भी भगवान शंकर की ही प्रेरणा से कट गया और अपने पुत्र गणेश का सिर भी स्वयं उन्होंने काट लिया था।

भगवान शंकर के चरित्र में यह सिर काटने का प्रसंग बारम्बार आता है। इसका अभिप्राय यह है कि शंकर जी तो हैं विश्वास के देवता और यह सिर ही है, जो विश्वास के विरुद्ध बार बार विद्रोह करता है। इसलिए वे सिर को ही पहले काटते हैं। सिर माने क्या ? सिर बुद्धि का स्थान है। अब प्रश्न उठता है कि क्या विश्वास को बुद्धि की आवश्यकता नहीं है ? बुद्धि में दो प्रकार की वृत्ति है, संशय की वृत्ति और विवेक की वृत्ति। जहाँ पर संशय की वृत्ति है, वहाँ पर वे सिर काट देते हैं और विवेक-वृत्ति का एक नया सिर जोड़ देते हैं। ब्रह्माजी के पाँच सिर थे। उनमें से एक को शंकरजी ने काट दिया, चार रहने दिया। नया सिर उन्होंने नहीं जोड़ा। बोले – आपको नये सिर की आवश्यकता नहीं है, ये चार ही पर्याप्त हैं। इसका तात्त्विक अभिप्राय क्या है ? ब्रह्मा को अपनी वृत्ति के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण अनुभव हुआ और वे उनके पीछे भागे। तब भगवान शंकर ने तुरन्त उनका सिर काट दिया। इसका अभिप्राय यह है कि जो सृजन करते हैं, उनमें सबसे बड़ा दोष यह होता है कि वे अपनी वृत्ति के सौन्दर्य पर मोहित हो जाते हैं और उसके पीछे भागने लगते हैं। उनकी अपने वृत्ति के प्रति आसक्ति का केन्द्र यह पाँचवाँ सिर था। भगवान शंकर ने ब्रह्मा के इस आसक्ति बुद्धि को, इस पाँचवें सिर को काट दिया। बोले – सृजन के लिए ये चार सिर ही ठीक हैं, आसक्तिवाला सिर ठीक नहीं। इसलिए अब तुम चार सिरवाले ही रहो।

दक्ष की समस्या क्या है ? दक्ष ने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। उस यज्ञ में उसने समस्त ऋषि मुनि और देवताओं को आमंत्रित किया, केवल शंकरजी को नहीं बुलाया। सारे देवता दक्ष के पक्षधर थे। ऋषि-मुनियों को भी लगता था कि शिव का आचरण वैदिक परम्परा के अनुकूल नहीं है, मर्यादा के अनुकूल नहीं है। किनको इस दक्ष-यज्ञ का आचार्य बनाया गया ? भृगु जैसे महापुरुष को। अब कथा में तो यह भी कहा गया है कि भरी सभा में जब दक्ष ने शिवजी की निन्दा की, तो भृगु ने भी दाढ़ी हिला-हिलाकर बड़ी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा – दक्ष तुम बिलकुल ठीक कहते हो। तुमने शंकर को नहीं बुलाया, यह बहुत अच्छा किया। बहुत ही उच्छृंखल आचरण है उसका।

दक्ष ने शंकरजी को यज्ञ में नहीं बुलाया, इसलिए शंकरजी तो आए नहीं, पर साथ ही निमन्त्रण पाने के बावजूद दो अन्य देवता भी नहीं आए। वे कौन थे? बोले –

बिष्णु बिरंचि महेसु बिहाई ।
चले सकल सुर जान बनाई ॥ १/६०/२

शंकरजी को तो निमन्त्रण ही नहीं मिला था, लेकिन ब्रह्मा और विष्णु निमन्त्रण पाकर भी नहीं आये थे। इस प्रकार उस यज्ञ में सब तो आये, पर ये तीन देवता नहीं आये। तीन को छोड़कर बाकी सब देवताओं को आया देखकर दक्ष प्रसन्न हो गये। बोले – कोई बात नहीं, करोड़ों देवता आये हैं, अब अगर तीन नहीं भी आए, तो कोई खास बात नहीं है। अब उस अभागे के विषय में क्या कहा जाय ! जिस बारात का वह स्वागत करने जा रहा हो, वह बारात तो बड़ी ठाठदार हो और पता लगे कि बारात तो पूरी आ गई है, पर केवल तीन ही लोग नहीं आए हैं। कौन कौन? – बस केवल दूल्हा, उसके पिता और बड़े भाई नहीं आए, बाकी सभी बाराती आ गये हैं। अब ऐसी बारात, जिसमें दूल्हा न हो, वह बारात स्वागत करने योग्य है क्या? इसका अभिप्राय यह है कि ये तीनों देवता तो यज्ञ के तीन प्रमुख अंग हैं। ब्रह्मा विधि है, शंकर विश्वास है और विष्णु यज्ञपुरुष हैं। अब जिस यज्ञ में विधि नहीं है, विश्वास नहीं है, साक्षात यज्ञपुरुष नहीं हैं, तो क्या यह सही अर्थों में यज्ञ है ? दक्ष ने शंकर को नहीं बुलाया, इसलिए शंकर नहीं आए, किन्तु ब्रह्मा और विष्णु क्यों नहीं आए? विधि और यज्ञपुरुष क्यों नहीं आये ? जो अविवेकी मर्यादावादी होते हैं, वे केवल कर्मकाण्ड को ही विधि समझ बैठते हैं। वास्तव में विधि क्या है ? विश्वास ही सबसे बड़ी विधि है। भगवान शंकर विश्वास हैं। उनको सबसे पहले बुलाना चाहिए। अगर आपको यज्ञ में विश्वास नहीं है, तो आप कर्मकाण्ड के सारे नियमों का चाहे कितनी भी सावधानी से पालन करें, आपको उस कार्य में सिद्धि नहीं मिलेगी। दक्ष ने भगवान शंकर को आमन्त्रित नहीं किया। भगवान शंकर नहीं आए, तो ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं आए। तब दक्ष के यज्ञ का क्या हुआ ? गोस्वामीजी ने कहा –

भै जगबिदित दक्ष गति सोई ।
जसि कछु संभु बिमुख कै होई ॥ १/६५/३

विधिहीन, विश्वासहीन, यज्ञपुरुष से विहीन यज्ञ का रुद्रगणों ने विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। भृगु मन्त्रों के महान ज्ञाता थे। उन्हें अपने ऋषित्व पर बड़ा अभिमान हुआ। उन्होंने अपने मन्त्रों के प्रभाव से रुद्रगणों को परास्त कर दिया और अभिमान करने लगे कि देखो मैंने रुद्रगणों को परास्त कर दिया। लेकिन भगवान शंकर ने तुरन्त वीरभद्र को भेजा। वीरभद्र ने यज्ञ तो नष्ट किया ही, साथ ही उन्होंने दक्ष के सिर को भी, नहीं कटा तो मरोड़कर तोड़ दिया और यज्ञकुण्ड में फेंक दिया। सारे देवता

भगवान् शंकर के पास गये और उनसे कहा — महाराज, आपके गणों ने यज्ञ का ध्वंस कर दिया। भगवान शंकर हँसते हुए बोले — यज्ञ ध्वंस किया या यज्ञ पूर्ण किया ? स्थूल दृष्टि से देखें, तो यज्ञ का ध्वंस किया और सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो उन्होंने यज्ञ को पूरा किया। कैसे ? बोले — यज्ञ तो पूर्ण होता है आहुति के द्वारा और यज्ञ की अन्तिम आहुति है अहंता और ममता। जिस यज्ञ में यजमान अपने 'मैं' तथा 'मेरेपन' की आहुति देता है, वही सच्चे अर्थों में आहुति देकर यज्ञ पूरा करता है। सती के देहत्याग से मानो ममता की आहुति हो गई और दक्ष के क्षुद्र 'अहं' की आहुति देने के लिए भगवान शंकर ने वीरभद्र को भेज दिया।

यही भगवान शंकर की शैली है। दक्ष का क्षुद्र 'अहं' विराट 'अहं' का विरोध कर रहा था। वीरभद्र ने उसे नष्ट कर दिया। भगवान शिव की कृपा क्या है ? लोगों को लगेगा कि यज्ञ नष्ट हो गया, पर यज्ञ तो वास्तव में तभी पूर्ण होगा, जब उसके सिर का बलिदान हो जायगा। जब तक उसके 'अहंता' तथा 'ममता' की आहुति न दे दी जायगी तब तक यज्ञ पूर्ण कैसे होगा ? देवताओं ने जाकर भगवान शंकर से प्रार्थना की तो वे मुस्कुराते हुए यज्ञस्थल पर आ गये और कहा — अच्छा, अब हम दक्ष के गले पर नया सिर जोड़ देते हैं। पुराना सिर तो नहीं जोड़ेंगे, क्योंकि वह बड़ा झगड़ेवाला सिर है, वह तो अग्निकुण्ड में गया। व्यष्टि अहंकार वाला सिर वीरभद्र ने नष्ट कर दिया। अब कौन सा सिर जोड़ेंगे ? उन्होंने कहा — बकरे का सिर। बकरे का सिर जुड़ते ही दक्ष भगवान शंकर की स्तुति करने लगे। बड़ी सुन्दर स्तुति है वह। इसीलिए आज भी शंकरजी के भक्तों में यह परम्परा चली आ रही है कि पूजा की पूर्णता के लिए अन्त में बकरे की बोली अवश्य बोलना चाहिए। इसका अर्थ क्या है? यह कि याद रखें कि अभिमान के कारण ही दक्ष की दुर्दशा हुई थी। भगवान शंकर की कृपा यही है कि वे अहंकार को नष्ट कर देते हैं। जो चतुराई विश्वास का विरोधी है, उसे भगवान शंकर काटकर नष्ट कर देते हैं और फिर अपनी समता का परिचय देते हुए नया सिर जोड़ देते हैं। वे क्रोधी नहीं है, क्रोध में आकर किसी को मार डालने के लिए किसी का सिर नहीं काटते। वे तो बचाने के लिए सिर को काटते हैं।

गणेशजी के प्रसंग में भी देखें। पार्वतीजी ने स्नान करते समय गणेशजी का निर्माण कर दिया। यह बड़ी सांकेतिक भाषा है। गणेशजी का निर्माण अकेली पार्वतीजी ने ही कर दिया। गणेशजी ने पूछा — माँ, क्या आज्ञा है ? तो पार्वतीजी ने कहा — तुम पहरे पर खड़े रहो, कोई अन्दर न आने पावे। गणेशजी दरवाजे पर खड़े हो गये। संयोग से शंकरजी ही आ गये और भीतर जाने लगे। गणेशजी तो शंकरजी को पहचानते नहीं थे; उन्होंने तुरन्त उनको रोक दिया। शंकरजी ने कहा — क्या तुम मुझे पहचानते हो ? उन्होंने कहा — न पहचानता हूँ और न इसकी आवश्यकता ही

है; मैं तो माँ की आज्ञा का पालन करूँगा। केवल शब्द को पकड़ लिया गणेशजी ने। कभी कभी विद्वान लोग शब्द को बड़ा महत्व देते हैं। गणेशजी ने कहा – माँ ने कहा है कि किसी को भीतर न आने देना। अब किसी को भीतर न आने देने का अर्थ यह तो नहीं है कि गृहस्वामी को ही रोक दें। शंकरजी ने उनका सिर काट दिया और भीतर चले गये। पार्वतीजी ने पूछा – महाराज, उस बालक ने आपको द्वार पर रोका तो नहीं ? बोले – रोका तो था। – फिर आपने क्या किया ? बोले – मैंने उसका सिर काट दिया। पार्वतीजी बड़ी दुःखी हुई, रोने लगी – हाय आपने मेरे पुत्र का सिर काट दिया ? शंकरजी मुस्कुराते हुए बोले – पार्वती, तुमने भूल किया, बालक का निर्माण तो दो के द्वारा होता है, तुमने अकेले ही इस बालक का निर्माण कर लिया। इसका अभिप्राय यह है कि जिस गणेश का निर्माण केवल श्रद्धा के द्वारा होगा, उसमें विश्वास का अभाव होगा। श्रद्धा बुद्धितत्त्व है और विश्वास हृदयतत्त्व। दोनों का सामंजस्य होना चाहिए। तुमने अकेले ही बालक का निर्माण कर दिया। अच्छा, कोई बात नहीं, नया सिर जोड़ देते हैं। इस तरह गणेशजी का गले तक का भाग पार्वतीजी की सृष्टि है और सिर शंकरजी का दिया हुआ है। ये ही गणेशजी हैं, जिनकी हम पूजा करते हैं, जिनका निर्माण पार्वतीजी और शंकरजी के द्वारा हुआ, जो श्रद्धा और विश्वास के समन्वय स्वरूप है। भगवान शंकर सिर बदल देने की कला में बड़े निपुण हैं। लेकिन रावण के साथ उन्होंने ऐसा नहीं किया। रावण ने शंकरजी के सामने अपना सिर स्वयं काट दिया। – क्यों ? उसने सोचा – इससे शिवजी प्रसन्न हो जाएँगे। भगवान शंकर ने कहा – अच्छा, तुम्हारा सिर फिर से निकल आवे। रावण के सिर फिर से निकल आए। उन्होंने रावण का सिर नहीं बदला। गणेशजी का तथा अन्य लोगों का सिर तो बदल दिया, पर रावण के सिर का न तो उन्होंने मुण्डमाल बनाया और न ही उसे बदला। मानो यह रावण पर व्यंग्य था। रावण के दस सिर थे। उनके सामने जब भगवान शंकर प्रगट हुए, तो उसने देखा कि उनके पाँच मुख हैं। यह देखकर रावण के मन में सबसे पहले यही बात आई कि चलो, बुद्धिमान तो कम-से-कम मैं इनसे दुगना हूँ। भगवान शंकर ने कहा – भाई, तुम्हारा सिर तुम्हारे ही पास रहे, तो अच्छा है, वे न तो काटनेयोग्य है न बदलनेयोग्य है।

'अहं' की समग्रता शिव में ही है। वहाँ न द्वैत है, न कुटिलता और न कपट। वहाँ परपीड़न की वृत्ति नहीं है। क्षुद्र 'अहं' द्वैत ही सृष्टि करता है और राग-द्वेष, कपटता, कुटिलता, स्वार्थ तथा परपीड़न की वृत्ति को जन्म देता है। उसमें हिंसा और अशान्ति है। परन्तु शिव परमशान्ति, समाधि, अद्वैत तथा अहिंसा की अवस्था हैं। शिव मूर्तिमान विश्वास हैं और यह क्षुद्र 'अहं' विश्वास में बाधक है। विश्वास में प्रतिष्ठित होने के लिए यह विराट् 'अहं' ही सहायक है। किन्तु यह 'अहं' बिरले ही

व्यक्तियों में दिखलाई देता है। हम लोगों में तो किसी-न-किसी तरह का क्षुद्र 'अहं' ही विद्यमान है। दक्ष को अपने प्रजापतित्व का अभिमान है। हममें से किसी को जाति का, किसी को पद का, किसी को धन का, तो किसी को पुण्य का अभिमान है। इसलिए गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में बड़ी सार्थक भाषा का प्रयोग किया है।

पुराणों में एक रक्तबीज नामक राक्षस की कथा है। उसकी विशेषता यह थी कि जब उस पर प्रहार किया जाता था, तो उसके शरीर से रक्त की जितनी बूँदे जमीन पर गिरतीं, उतने ही रक्तबीज उत्पन्न हो जाते। गोस्वामीजी ने कहा – पाप है रक्तबीज और पुण्य है तलवार। जब हम पुण्य का तलवार पाप पर चलाते हैं, तब क्या होता है –

करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ वि.प.१२८

रक्तबीज की तरह वह बढ़ता ही चला जाता है। यह बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है। इसका अभिप्राय क्या है ? जब हम पाप को नष्ट करने के लिए उस पर पुण्य का प्रहार करते हैं, तब परिणाम क्या होता है ? उस प्रहार से पाप का सिर कट गया, पर क्या वह मरा ? नहीं, वहाँ तो रक्तबीज की तरह हजारों पाप उत्पन्न हो गये।

और ये हजारों पाप क्या हैं ? ये हैं सत्कर्म का अभिमान। मैंने इतनी पूजा की, इतना पाठ किया, इतना सत्कर्म किया, इतना दान किया, जिधर देखो उधर ही चारों ओर हजारों रक्तबीज उत्पन्न हो गये। अब इस रक्तबीज को मारने का उपाय क्या है ? उपाय यह है कि रक्तबीज को कोई ऐसा मारे कि उसके रक्त का एक बूँद भी जमीन पर न गिरने दे। देवी ने उसका गला काटकर तुरन्त उसके रक्त को पी लिया, एक बूँद भी जमीन पर नहीं गिरने दिया। तब रक्तबीज मारा गया और नये रक्तबीज उत्पन्न नहीं हुए। सत्कर्म के द्वारा जब पाप पर प्रहार किया जायगा और वह अधोगामी होगा, तो पुनः रक्तबीजों की सृष्टि होगी। अब उपाय क्या है ? देवी अगर उसके रक्त का एक बूँद भी नीचे न गिरने दे, तभी रक्तबीज का विनाश होगा।

गोस्वामीजी से से किसी ने पूछा – महाराज, मनुष्य के जीवन में पाप को मिटाने के लिए जो सत्कर्म का प्रहार किया जा रहा है, किन्तु फिर भी यह रक्तबीज की तरह बढ़ता ही जा रहा है, इसके विनाश का उपाय क्या है ? गोस्वामीजी ने कहा –

हरति एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु-कृपा-कालिका॥ वि.प. १२८

यह कालिका कौन है ? बोले – भगवान की कृपा ही कालिका है। यह एक सूत्र है और इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि सत्कर्म करते हुए 'मैं करनेवाला हूँ' यह वृत्ति न आने पावे। कर्तापन की वृत्ति आने पर रक्तबीज बढ़ेगा। सत्कर्म करते हुए भी अगर यह वृत्ति बनी रहेगी कि भगवान ने ही कृपा करके मुझसे यह कार्य कराया, तब तो

रक्तबीज उत्पन्न नहीं होगा। अन्यथा यह बढ़ता ही जायगा और कभी इसका विनाश नहीं होगा। इसलिए 'अहं' के विनाश की जो प्रक्रिया है, उसका संकेत मानस में कुम्भकर्ण के सन्दर्भ में किया गया है। कुम्भकर्ण को जगाया गया। कब जगाया गया ? जब रावण की आधी सेना मारी जा चुकी थी। यही अभिमान का मनोविज्ञान है। आधे दुष्कर्म मिट जाते हैं, तब कुम्भकर्ण रूपी अहं को जगाया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि लोभ को मिटाने के लिए दान किया, तो लोभ कुछ घटा, लेकिन उसके साथ ही तुरन्त 'मैं दानी हूँ', यह अभिमान का कुम्भकर्ण जाग उठा। बस, सत्कर्म के द्वारा आधे पाप के नष्ट होते ही इसके जागने का बड़ा डर है। रावण ने तुरन्त उसे जगा दिया। जागा तो उसने रावण से पूछा – तुम्हारा मुँह क्यों सूखा हुआ है ? रावण ने उसे सारा हाल बताया। कुम्भकर्ण ने कहा –

जगदम्बा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान। ७/६२

– अरे दुष्ट, सीताजी का हरण करके तू ले आया है और अब कल्याण चाहता है?

बड़ी कठोर भाषा है उसकी। विभीषण तो बेचारे पैर पकड़कर ही मनाते रहे, तो भी उन्हें लात खाना पड़ा। लेकिन कुम्भकर्ण तो रावण को ही दुष्ट कह रहा है, पर बड़ी विचित्र बात यह है कि कुम्भकर्ण के इस कठोर शब्द को सुनकर रावण रंचमात्र भी क्रोधित नहीं हुआ। क्यों ? रावण इस मनोविज्ञान को खूब जानता है कि विभीषण चाहे जितना विनत होकर मेरे चरणों को पकड़े, चाहे जितनी विनम्र भाषा बोले, पर अन्त में यह है राम का ही पक्षपाती और कुम्भकर्ण चाहे जितना कठोर शब्द बोले, चाहे राम की प्रशंसा भी क्यों न करे, पर अन्त में लड़ेगा यह मेरी ही ओर से। इसका अभिप्राय यह है कि अभिमान सराहना तो सत्कर्म का भी कर देता है, भगवान की भी सराहना कर देता है, किन्तु जब सक्रिय होता है तो मोह की ओर से ही सक्रिय होता है। यही इसकी विशेषता, प्रकृति और स्वभाव है। इसलिए रावण कुम्भकर्ण के कठोर शब्द को सुनकर भी प्रसन्न है। इसे बड़ी प्रतीकात्मक भाषा में गोस्वामीजी ने लिखा है कि जब रावण ने कुम्भकरण का उपदेश सुना तो तुरन्त –

रावन मागेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक। ६/६३

रावण ने धीरे से कहा – शराब के घड़े और भैंसे ले आओ। इसका अभिप्राय है – अभिमान चाहे जितनी ऊँची बातें करे, पर वह खाता-पीता भैंसा और शराब तमोगुणी वस्तुएँ। यही उसका प्रिय भोजन है। इसी से उसे शक्ति मिलती है।

महिष खाइ करि मदिरा पाना।
गर्जा बज्राघात समाना॥ ६/६३/१

गरजने लगा। रावण ने पूछा, कितनी सेना आपके साथ कर दें ? कुम्भकर्ण हँसने

लगा, बोला – यह सेना-वेना लेकर तुम जाया करो, हम तो अकेले ही लड़ते हैं। हमारे जीवन में भी यही दिखाई देता है; अन्य दुर्गुण तो सेना लेकर आते हैं, लेकिन अभिमान कहता है – हम अकेले ही काफी हैं, अकेले ही सबको समाप्त कर देंगे। यहाँ भी वही हुआ। बन्दरों ने जब देखा कि अकेले चला आ रहा है, तो सोचा कि अब भगवान से पूछने की क्या आवश्यकता है; इस अकेले को मारने के लिए हम लोग ही काफी हैं। यही पुण्याभिमान हैं। गोस्वामीजी ने कहा कि कुम्भकर्ण को देखते ही –

एतना कपिन्ह सुना जब काना।
किलकिलाइ धाए बलवाना॥ ६/६४/३

बड़े उत्साहित होकर दौड़ पड़े और लगे उस पर वृक्ष-पर्वत फेंकने। इस पर गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि इस प्रहार से कुम्भकरण को चोट तो अवश्य लगी होगी? बोले, बस –

जिमि गज अर्क फलनि को मार्‌यो। ६/६४/६

उसे तो खुजली मिटाने का आनन्द मिल रहा था कि चलो भाई, कोई खुजला रहा है। जिन साधनों के द्वारा हम अभिमान को मिटाना चाहते हैं, उससे तो अभिमान की खुजली ही मिटाते हैं, उससे उसका कुछ खास नहीं बिगड़ता। इसके बाद वर्णन आता है कि वह बन्दरों को उठा-उठाकर खाने लगा। सारे सत्कर्म और सद्‌गुण कुम्भकर्ण के मुँह में समाये जा रहे हैं। क्या हो गया है, इतने सत्कर्म करने के बाद भी अभिमान पर विजय प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं? कुम्भकर्ण खाता चला जा रहा है। बड़ा लम्बा प्रसंग है। अन्त में संकेत यही है कि सब हार जाते हैं। सुग्रीव को कुम्भकर्ण बगल में दबा लेता है। वे किसी तरह छूटकर भागे और भगवान की शरण में आकर बोले – महाराज, बड़ी भूल हो गयी, आपको बिना बताए ही हम लड़ने चले गये। **कोटि कोटि कपि धरि-धरि खाई** – यह दुष्ट तो सबको खाये जा रहा है। भगवान बोले – अच्छा, चलो। बन्दर बोले – महाराज, हम लोग तो जाकर भोग चुके हैं। प्रभु बोले – ठीक है, आगे नहीं तो पीछे चलो, पर चलो तो सही। गोस्वामीजी ने कहा –

राम सेन निज पाछें घाली।
चले सकोप महा बलसाली॥ ६/६९/६

भगवान राम आगे बढ़कर कुम्भकर्ण से युद्ध करने लगे। कुम्भकर्ण की दो भुजाएँ हैं, 'मैं और तू'। भगवान उसे काट देते हैं और अन्त में उसका सिर भी काट देते हैं। कुम्भकर्ण का तेज निकलकर भगवान में समा जाता है। इसका अर्थ क्या है? अभिमान जब भगवान से मिल जाय, तब वह क्षुद्र 'अहं' नहीं रह जाता, वह भगवान

से एकाकार होकर विराट् 'अहं' हो जाता है। तब वही कुम्भकर्ण शिव स्वरूप हो जाता है। सुतीक्ष्णजी से भगवान राम ने कहा – माँगो। तो सुतीक्ष्णजी बोले –

मुनि कह मैं बर कबहु न जाचा।
समुझि न परइ झूठ का साचा॥ ३/११/२४

– महाराज, मुझे समझ में नहीं आता कि क्या माँगना चाहिए, इसलिए आपको जो अच्छा लगे, वही दे दीजिए। और जब भगवान दे चुके, तो कहने लगे –

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा।
अब सो देहु मोहि जो भावा॥ ३/११/२७

– आपको जो अच्छा लगा, वह आपने दिया, अब मुझे जो अच्छा लगता है, वह मुझे दीजिए। भगवान हँसनें लगे। बोले – अभी तो तुम कह रहे थे कि तुम्हे माँगना नहीं आता। बोले – आता तो नहीं था, पर अभी आपने जो ज्ञान दे दिया न! इसलिए अब बुद्धि आ गई। अब मैं समझ गया कि क्या माँगना चाहिए। सुतीक्ष्णजी माँगते हैं – आप मेरे हृदय में निवास कीजिए। भगवान ने कहा – अच्छा, यह भी दिया। मुनिजी बोले – महाराज, चलते चलते एक वस्तु और देते जाइए। भगवान मुस्कुराकर देखने लगे, लोभ तो बढ़ता ही जा रहा है। सुतीक्ष्णजी ने कहा – महाराज, मैं आपसे एक ऐसी वस्तु माँग रहा हूँ; जिसे कोई नहीं माँगता और आपके पास बेकार पड़ी हुई है। बताइए तो, अभिमान माँगने आपके पास कभी कोई आया है ? प्रभु बोले – नहीं भाई, ऐसा तो कोई नहीं आया। बस तो वह वस्तु जो आपके पास बेकार पड़ी हुई है, मुझे दे दीजिए –

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥ ३/१०/२१

– मैं आपका सेवक हूँ, आप मेरे स्वामी हैं, बस यही अभिमान मुझमें बना रहे, और कोई अभिमान जीवन में शेष न रहे।

यह अभिमान मानो सारे अभिमानों को काटनेवाला है। यह है भगवत्कृपा के द्वारा अभिमान पर विजय। अभिमान की व्याख्या तो पूरे रामायण में अनेक रूपों में की गई है और बड़े ही मनोवैज्ञानिक पद्धति से की गई है। विभिन्न परिस्थितियों में अभिमान किन किन रूपों में आता है और अन्त में उसे नष्ट करने के लिए भगवत्कृपा की कितनी आवश्यकता होती है, साधक किस तरह से अभिमान से मुक्त हो पाता है, इसका गोस्वामीजी ने बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। ☆ (क्रमशः)

श्री चैतन्य महाप्रभु (७६)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्री श्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

हम पहले ही कह आये हैं कि गौड़ीय भक्तगण प्रतिवर्ष चैतन्यदेव के लिए विविध प्रकार की खाद्य-सामग्रियाँ लेकर पुरी आया करते थे। पानीहाटी के भक्त राघव पण्डित तथा उनकी भक्तिमती बहन भी, उनके पूरे वर्ष के उपयोग के लिए विविध वस्तुओं का विशेष रूप से संग्रह करके, एक अलग पेटी में भलीभाँति सजाकर प्रतिवर्ष भेजा करते थे। वह धीरे धीरे 'रघुनाथ की झोली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। शिवानन्द सेन उस पेटी पर अपने हाथ से सील-मोहर लगाकर परम यत्नपूर्वक पुरी ले जाते थे; उसे साथ ले जाने के लिए एक विशेष वाहक नियुक्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त अलग से एक देखभाल करनेवाले व्यक्ति की भी नियुक्ति की जाती थी। वे प्रतिवर्ष यह झोली पुरी ले जाकर गोविन्द के हाथों में सौंप दिया करते थे।

'चैतन्य-चरितामृत' ग्रन्थ में उस झोली का जो वर्णन दिया गया है, उसे पढ़ने से उस काल के 'सुजलां सुफलां बंगभूमि' के सुखी अधिवासियों की भोजन-प्रथा का किंचित परिचय मिल जाता है। लाई, मुरमुरा, चिउड़ा, तिल, नारियल आदि को घी में तलकर, चीनी के रख में डुबाकर कितने ही प्रकार की स्वादिष्ट तथा दीर्घकाल-स्थायी चीजें बनाकर उन्हें भेजी जाती थीं। इतना ही नहीं, नित्य-नैमित्तिक उपयोग की विविध प्रकार की छोटी-मोटी चीजें भेजने में भी वे लोग कोई भूल नहीं करते थे। नये कपड़े की बनी छोटी-बड़ी अनेक थैलियों में अनेक प्रकार की चीजें भरी रहती थीं। चैतन्यदेव की गंगाभक्ति भी असाधारण थी, अतः राघव की बहन गंगा के भीतर से अच्छी मिट्टी लाकर, उसे पानी में घोलने के बाद महीन कपड़े से छानकर, उसमें से बालू-कंकड़ आदि निकाल दिया करती थीं। फिर वे बड़ी सावधानीपूर्वक उसके लौदे बनाकर, उससे सुन्दर ढँग से अँगुली के आकार के छोटे छोटे गुटके बना करके भलीभाँति सुखा लेतीं और थैली में भर कर पूरे वर्ष के उपयोग के लिए भेज

देतीं। वह 'राघव की झोली' गोविन्द विशेष यत्नपूर्वक अपने पास रखते और आवश्यकतानुसार चैतन्यदेव की सेवा में लगाते। फिर संन्यासी-चूड़ामणि स्वयं भी कभी कभी कोई चीज गोविन्द से माँगकर उपयोग में लाते। आश्रित तथा अन्तरंग भक्तों की आकांक्षा को पूर्ण करने तथा उनके श्रम को सार्थक बनाने की ओर उनका जितना ध्यान रहता था, वह अवर्णनीय है। असंख्य भक्तगण उन्हें भगवान का विग्रह मानकर इस प्रकार उन्हें अपने हृदय की श्रद्धा-भक्ति अर्पित करते थे, तथापि वे स्वयं पूर्णरूप से निरभिमान थे। बाह्य आडम्बर तथा मान-यश-प्रतिष्ठा को वे भगवत्-पथ में महान बाधक मानकर उनसे स्वयं भी घृणा करते थे और भक्तों को भी उसे पूरी तौर से त्यागने का उपदेश देते थे।

पहली बार रथयात्रा के अवसर पर गुण्डिचा-भवन साफ करते समय धुलाई करते समय एक गौड़ीय भक्त ने चैतन्यदेव के चरणों में जल ढ़ालकर, उस चरणोदक का पान किया था। प्रथमतः तो चैतन्यदेव किसी को अपना चरणोदक देने को सहमत ही न थे और द्वितीयतः मन्दिर के अन्दर इस प्रकार चरण धोना महान अपराध है। अज्ञ भक्त के ऐसा करने पर महाप्रभु के चित्त में बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने विषादपूर्वक स्वरूप दामोदर को बुलाकर कहा, "अपने गौड़ीय की इस कारगुजारी को देखो।" स्वरूप ने नाराज होकर उन गौड़ीय भक्त को धक्के मारकर मन्दिर से बाहर कर दिया और उनके इस दुष्कर्म की तीव्र भर्त्सना करने लगे। उन भक्त बेचारे को भी अपने इस कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा और वे बारम्बार क्षमा प्रार्थना करने लगे। थोड़ी देर बाद चैतन्यदेव का मन पिघला और उस आनन्द के वातावरण में तब भी उन भक्त को दुखमग्न देखकर स्वरूप उन्हें महाप्रभु के चरणों में ले गये और भविष्य में सावधानी बरतने का निर्देश देकर उनके सारे अपराध क्षमा करा दिये।

इस घटना से अन्य भक्तों को भी शिक्षा मिल गयी। उनका चरणामृत तथा भुक्तावशेष प्रसाद ग्रहण करने की तीव्र अभिलाषा होने पर भी, उनकी तीव्र अरुचि देखकर कोई अग्रसर होने का साहस नहीं जुटा पाता था। उनके भुक्तावशेष पात्र पर सेवक का अधिकार था। पर हाँ, किसी किसी विशेष कृपापात्र भक्त को चैतन्यदेव की अनुमति लेकर गोविन्द उसे दे सकते थे। बाकी लोगों के लिए प्रसाद पाने का कोई उपाय न था। इस विषय में उनके भक्तानुग्रह की एक अपूर्व कथा लिपिबद्ध है।

कालिदास नाम के एक भक्त, नाते में चैतन्यदेव के परमप्रिय भक्त रघुनाथ दास चाचा लगते थे। वृद्ध भक्त कालिदास का एक बड़ा ही विचित्र स्वभाव था और वह

था भगवद्भक्तों का उच्छिष्ट प्रसाद खाना। हिरण्य-गोवर्धन के सम्बन्धी होने के कारण यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समाज में कालिदास की स्थिति बिल्कुल नगण्य नहीं थी। परन्तु सामाजिक मर्यादा और प्रतिष्ठा की वे बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करते थे। किसी भक्त का नाम सुनते ही कालिदास के प्राणों में उनका प्रसाद पाने की तीव्र आकांक्षा का उदय होता था। वे भक्त की जाति-कुल आदि का भी कोई विचार नहीं करते थे।

उन दिनों गौड़ अंचल में ही 'झड़ू' नामक एक 'भूमाली' जाति के एक भक्त निवास करते थे। उनकी उच्च भाव-भक्ति के कारण लोग उन्हें 'झड़ू ठाकुर' के नाम से जानते थे। भक्तप्रसाद के लोभी कालिदास ने 'झड़ू ठाकुर' से भी प्रसाद की याचना की, परन्तु उन्होंने अपनी निम्न जाति-कुल का हवाला देते हुए विनयपूर्वक इन्कार कर दिया। झड़ू ठाकुर की पत्नी से उक्त प्रसाद पाने की प्रार्थना करके भी कालिदास को कोई सफलता नहीं मिली। तदुपरान्त उन्होने मन-ही-मन एक उपाय निर्धारित किया। एक दिन संध्या के पूर्व कुछ मीठे आम ले जाकर उन्होंने झड़ू ठाकुर की सेवा के लिए उनकी पत्नी को दे दिये और स्वयं उनके घर के पास ही छिपकर उनका भोजन आदि ध्यानपूर्वक देखने लगे। यथासमय जब झड़ू ठाकुर आहार के लिए बैठे तो उनकी पत्नी ने उन मीठे आमों को भी बड़े यत्नपूर्वक खिलाना आरम्भ किया और भोजन पूरा हो जाने पर बाकी जूठन के साथ ही उन्होंने आम की गुठलियाँ भी बाहर फेंक दीं। कालिदास की मनोकामना पूर्ण हुई, बड़ी आकुलता के साथ जूठे आम की गुठलियाँ उठाकर वे आनन्दपूर्वक उन्हें चूसने लगे। इस प्रकार झड़ू ठाकुर का प्रसाद पाकर कालिदास की बहुत दिनों की आकांक्षा पूरी हुई।

भक्त कालिदास जब पुरी आये, तो उनके मन में चैतन्यदेव का प्रसाद पाने के लिए भी बड़ी उत्कण्ठा जन्मी। परन्तु इस उत्कण्ठा को पूरा करना तो अत्यन्त कठिन था। इधर वृद्ध कालिदास भी सहज ही छोड़नेवाले नहीं थे। भगवान के समक्ष अपने अन्तर की प्रार्थना व्यक्त करने के उपरान्त वे सुयोग की प्रतीक्षा करने लगे। चैतन्यदेव जब प्रातःकाल श्री जगन्नाथ का दर्शन करने जाते, तब जल से भरा कमण्डलु हाथ में लिए सेवक गोविन्द भी उनके साथ रहता था। अपने प्रतिदिन के अभ्यास के अनुसार महाप्रभु मन्दिर में प्रवेश करने के पूर्व, उत्तरी सिंहद्वार के पीछे जाकर एक नीची जगह में पाँव धोकर पहले नृसिंहदेव को प्रणाम आदि करके फिर जगन्नाथजी का दर्शन करने को जाते थे। उनके उस पादोदक को ग्रहण करना तो दूर, सामने से उनका स्पर्श करने तक का भी साहस कोई नहीं जुटा पाता था।

चैतन्यदेव का अनुसरण करते हुए कालिदास भी एक दिन सुबह सिंहद्वार के समीप जा पहुँचे और उनके पाँव धोने के साथ-ही-साथ वृद्ध ने अपनी अँजलि भरकर उस पादोदक का पान किया। जब कालिदास पहली, दूसरी और तीसरी अँजलि का भी पान कर चुके, तब चैतन्यदेव गम्भीर स्वर में बोले, "और कभी हाथ मत फैलाना।" कालिदास ने नतमस्तक होकर उस आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। इन वृद्ध भक्त के अन्तर तथा स्वभाव से चैतन्यदेव भलीभाँति परिचित थे, इसीलिए उन्हें निराश नहीं किया। इतना ही नहीं, वृद्ध की आकांक्षा को पूर्ण रूप से तृप्त करने के लिए एक अन्य दिन उन्होंने गोविन्द को कहकर अपना भुक्तावशेष पात्र भी उन्हें दिलवा दिया था। भक्त तथा आश्रितों के लिए महाप्रभु के मन में असाधारण सहानुभूति और अनुकम्पा थी, तथापि उनके जीवन में ऐसा कोई कार्य अथवा चाल-चलन नहीं दिखाई देता था, जिसके द्वारा लोगों के सम्मुख उनका गौरव व्यक्त हो या उनके अन्तर में अभिमान-अहंकार का संचार हो। उनका व्यवहार सदा-सर्वदा अत्यन्त विनम्रतापूर्ण रहा करता था।

असंख्य भक्त तथा समाज के अनेक प्रतिष्ठित, विद्वान और बुद्धिमान लोग उन्हें साक्षात देहधारी ईश्वर मानकर उनके प्रति परम भक्ति-श्रद्धा का भाव रखते थे। परन्तु इस कारण कभी उनमें किसी प्रकार का गर्व या अहंकार नहीं दिखाई देता था। संसार के अधिकांश लोग जिस मान, सम्मान, यश, ख्याति के लिए लालायित रहते हैं, उन्हें वे अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते थे। भक्तगण तथा अन्य लोग उन्हें चाहे जिस दृष्टि से भी क्यों न देखें, वे तो सर्वदा भगवत-पदाश्रित, प्रेमभक्ति-अभिलाषी, निःसम्बल संन्यासी के रूप में ही अपना परिचय दिया करते थे। यहाँ तक कि यदि कोई उनके समक्ष बढ़ा-चढ़ाकर कुछ कहता, तो वे उसका दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद भी करते थे। वल्लभाचार्य के प्रसंग में हम ऐसा देख चुके हैं और यहाँ एक अन्य घटना का उल्लेख करने से पाठकों को इसका विशेष प्रमाण मिल जायगा।

एक बार रथयात्रा के अवसर पर आये गौड़ीय भक्तों ने चैतन्यदेव के दर्शन से उल्लसित होकर उन्हीं के नाम की जयध्वनि आरम्भ कर दी। भक्तों के कण्ठ से उच्च स्वर में अपने नाम की समवेत जयकार कान में पड़ते ही वे विस्मित हो उठे और बड़ी नाराजगी दिखाते हुए उन्होंने स्वरूप के द्वारा भक्तों को ऐसा करने से मना करा दिया। चैतन्यदेव के चित्त में इससे असन्तोष का उदय हुआ है – स्वरूप के मुख से यह सुनकर भक्तगण तो चुप हो गये, परन्तु तब तक वहाँ एकत्र जनता ने भी उल्लसित

होकर उन्हीं लोगों के अनुकरण पर मुहुर्मुहुः जयध्वनि करना आरम्भ कर दिया था। स्वरूप सारी जानकारी देकर मन्द मन्द हँसने लगे, परन्तु चैतन्यदेव जनता को रोक पाना असम्भव समझकर अविलम्ब उस स्थान को त्याग करके अपनी कुटिया में चले गये। इसी से अनुमान हो जाता है कि वह उन्हें कितना असंगत तथा अप्रीतिकर लगा होगा।

उनकी निरभिमानता तथा दीन-हीन भाव का चूड़ान्त निदर्शन निम्मलिखित घटना से परिलक्षित होता है। चैतन्यदेव प्रतिदिन भोर के समय श्री जगन्नाथ मन्दिर की शंखध्वनि सुनकर शय्या त्याग देते थे। तदुपरान्त वे प्रातःकृत्य तथा स्नान आदि समाप्त करके श्री जगन्नाथ-दर्शन को मन्दिर में जाते। सामान्यतः वे मणिकोठा में प्रवेश न करके, नाट्यमन्दिर के पूर्व की ओर गरुड़-स्तम्भ के पास खड़े होकर पश्चिम की ओर मुख किये तृषित चातक के समान जगन्नाथजी के मुखचन्द्र की ओर निहारते रहते। मन्दिर में प्रवेश करते ही उनके मन की गति अन्तर्मुखी हो जाती और बाह्य जगत को विस्मृत कर उनका चित्त श्री जगन्नाथ के पादपद्मों में लीन हो जाता। इस प्रकार भावविह्वल चैतन्यदेव गरुड़-स्तम्भ का सहारा लेकर खड़े रहते। कभी कभी उनके नेत्रों से अविरल प्रेमाश्रु निकलकर मन्दिर के फर्श को भिगाते रहते, कभी उनके चित्त में विविध प्रकार के अद्‌भुत भावो का विकास होता और कभी वे अन्तर्दशा (जड़ समाधि) में प्रस्तरमूर्ति के समान निश्चल तथा निष्पन्द हो जाते। प्रभातकालीन अभिषेक, पूजा तथा भोग के पश्चात आरती की ध्वनि होने पर उनकी बाह्य चेतना लौटती और आरती-दर्शन, प्रणाम आदि के पश्चात वे अपनी कुटिया में लौट आते।

एक दिन प्रातःकाल मन्दिर में जाकर वे गरुड़-स्तम्भ के निकट इसी प्रकार निश्चल अवस्था में खड़े थे। उस दिन मन्दिर में बड़ी भीड़ थी। बहुत से लोगों को दर्शन आदि में असुविधा हो रही थी। जिन लोगों ने पर्व आदि के अवसर पर श्री जगन्नाथ के मन्दिर में होनेवाली भीड़ को अपनी आँखों से देखा है, वे इस घटना की सहज ही कल्पना कर सकेंगे। मन्दिर के भीतर प्रविष्ट होकर भक्तगण व्याकुल चित्त के साथ धक्कामुक्की करते हुए जैसे भी हो दर्शन पाने का प्रयास कर रहे थे। उसी समय श्री जगन्नाथ की दर्शनाकांक्षिणी एक ग्रामीण महिला भीड़-भाड़ के कारण दर्शन पान में असमर्थ होकर बड़ी उद्विग्न हो उठी। वह भी गरुड़स्तम्भ के पास ही जा खड़ी हुई। अत्यन्त व्यग्रतापूर्वक उसने स्तम्भ को पकड़कर निकट ही निश्चलावस्था में खड़े चैतन्यदेव के कन्धे पर पाँव रखकर अपना सिर ऊँचा करके श्री जगन्नाथ का

दर्शन किया और इस पर परम उल्लसित होकर आनन्द व्यक्त करने लगी। उसकी उल्लास-ध्वनि सुनकर आसपास खड़े लोगों की दृष्टि उस ओर आकृष्ट हुई और वह दृश्य देखकर सभी एक साथ हाय हाय कर उठे। गोविन्द भी तब तन्मय होकर जगन्नाथजी का दर्शन कर रहे थे। लोगों के शोरगुल से विस्मित होकर चैतन्यदेव की ओर दृष्टि फेरते ही उन्हें भी वह अद्भुत दृश्य देखने को मिला। वे अपने सिर पर हाथ रखकर बड़ी व्यग्रतापूर्वक उस महिला को नीचे उतारने को अग्रसर हुए। इस बीच चैतन्यदेव की भी बाह्यसंज्ञा लौट आयी थी और उन्होंने हाथ के संकेत से गोविन्द को रोक दिया।

क्षण भर बाद ही वह स्त्री नीचे उतरी और चैतन्यदेव पर दृष्टि पड़ते ही उसे अपने गुरु अपराध का बोध हुआ। पश्चात्ताप करती हुई वह बारम्बार महाप्रभु के चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगी। चैतन्यदेव उसके भक्तिभाव तथा व्याकुलता की प्रशंसा करते हुए बोले, "अहा, तुम्हारे समान व्याकुलता तो प्रभु ने मुझे भी नहीं दिया!" उसे सान्त्वना तथा अभय देते हुए विदा करने के पश्चात उस महिला की दर्शनाकांक्षा का उल्लेख करते हुए महाप्रभु ने गोविन्द से कहा, "उसका तन-मन-प्राण सब जगन्नाथ में ही आविष्ट हो गया था, उसे इतना भी बोध नहीं रहा कि उसने मेरे कन्धे पर अपना पाँव रखा है। अहा, उस भाग्यवती के पाँव की मैं वन्दना करता हूँ कि उनकी कृपाप्रसाद से मुझे भी वैसी ही व्याकुलता हो।"

चैतन्यदेव का अन्तर इतना अभिमानरहित था कि उसकी कल्पना मात्र से भी विस्मित रह जाना पड़ता है। उपरोक्त घटना पर विचार करने से और भी एक बात समझ में आती है। भगवद्भाव में चित्त के तन्मय हो जाने पर जीव के अन्तर से 'स्त्री' या 'पुरुष' का अभिमान अर्थात 'मैं स्त्री हूँ' या 'मैं पुरुष हूँ' ऐसा देहात्मबोध भी तिरोहित हो जाता है। इसी कारण एक महिला कन्धे पर चढ़ जाने पर भी चैतन्यदेव के चित्त में किसी प्रकार के विक्षेप का उदय नहीं हुआ। ☆ (क्रमशः) ☆

माँ सारदा देवी की स्मृतियाँ

भगिनी सुनन्दादेवी

स्वामी रामकृष्णानन्द मद्रास स्थित रामकृष्ण मठ के प्रथम अध्यक्ष थे। स्वामी विवेकानन्द ने दक्षिण भारत में ठाकुर का कार्य आरम्भ करने के लिए उन्हें ही भेजा था। उन्हीं स्वामी रामकृष्णानन्द ने १ फरवरी, १९११ ई. को (मेरे पिता) डॉ० पी० वेंकटरंगम को एक पत्र लिखकर सूचित किया कि माँ श्री सारदादेवी बंगलोर आने को सहमत हो गयी है और उनके तथा उनके संग आनेवाले अन्य दस लोगों के वहाँ रहने की सारी व्यवस्था की जाय। कर्नाटक राज्य में श्रीरामकृष्ण आन्दोलन प्रारम्भ करने में डॉ. वेंकटरंगम का प्रमुख योगदान था।

१९११ ई. के मार्च में माताजी का आगमन हुआ। बसवन्नागुड़ी के रामकृष्ण आश्रम के मन्दिर में उनके ठहरने की व्यवस्था हुई। मुझे स्मरण है कि माँ एक शुक्रवार के दिन बंगलोर पहुँची थीं और एक सोमवार के दिन उन्होंने वहाँ से विदा ली थी। उनकी उपस्थिति के कारण वहाँ बहुत से लोगों की भीड़ हुआ करती थी। सभी लोग माँ का आशीर्वाद प्राप्त करते। डॉ. पी. वेंकटरंगम ने एक दिन अपनी पत्नी को आश्रम भेजा। साथ में उन्होंने एक पत्र देकर आश्रम के स्वामीजी से अनुरोध किया था कि उनकी पत्नी को भी माँ के दर्शन का सुयोग दिया जाय। अपनी माँ के साथ मैं भी गयी थी। मुझे स्पष्ट रूप से याद है कि माताजी और मेरी माँ के बीच क्या बातचीत हुई थी। मेरी माँ बँगला नहीं जानती थीं और माताजी को तमिल नहीं आती थी। तथापि दोनों काफी देर तक बातें करती रहीं और बीच बीच में हास-परिहास भी हुआ था। जिस प्रकार दोनों बातें कर रही थीं, उससे यह साफ लग रहा था कि दोनों एक-दूसरे के भाव समझ रही हैं और भाषा की बाधा उनके लिए कोई समस्या ही नहीं है। एक दिन इसी प्रकार बातचीत के बीच मेरे मातापिता ने मुझे तथा मेरी बहन को माँ की सेवा में उत्सर्ग करने का प्रस्ताव किया। उत्तर में माताजी ने कहा कि उनका अनुसरण करने की दृष्टि से हम अभी काफी अल्पवयस्क हैं; बड़ी होने पर तब हम उनके पास जायँ। मेरी आयु तब मात्र तेरह-चौदह वर्ष थी। श्री माँ के कार्य में (अर्थात संन्यासिनी का जीवन वरण करने के लिए) स्वयं को उत्सर्ग करने के लिए मैं तथा मेरी मँझली बहन ने १३ अक्तूबर १९१७ ई. को कलकत्ते की यात्रा की थी। साथ में मेरी मौसेरी

(?) बहन तथा स्वर्गीय एम. राजगोपाल नायडू भी थे। वैसे कलकत्ता पहुँचकर हमें निराश होना पड़ा था, क्योंकि पता चला कि माँ वायुपरिवर्तन के लिए जयरामबाटी गयी हुई हैं। मन में सचमुच ही बड़ा धक्का लगा।

इसी प्रसंग में यह भी बता देना असंगत न होगा कि एक सुदूर प्रदेश के नये परिवेश में हमें पहले पहल कैसा अनुभव हुआ। हमें वहाँ की भाषा ज्ञात नहीं थी। रेल्वे स्टेशन से हम सीधे उद्बोधन कार्यालय पहुँचे। शाम का समय था। सर्वप्रथम जिनके साथ भेंट हुई वे थे स्वामी सारदानन्द। हम लोग जब तक कलकत्ते में रहे, तब तक के लिए वे ही हमारे अभिभावक थे। कलकत्ता पहुँचने के दूसरे दिन हम बेलुड़ मठ गये। जब हम लोग बेलूड़-दर्शन को गये, उस समय स्वामी ब्रह्मानन्द मठ में उपस्थित नहीं थे। हमने स्वामी शिवानन्दजी के साथ भेंट की। उन्होंने हमें नये जीवन में प्रवेश करने के लिए अनेक उपदेश दिये और खूब उत्साहित किया। यहाँ पर यह भी बता देना उचित होगा कि हम अँगरेजी के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में वार्तालाप नहीं कर पाती थीं। नयी जगह में अपरिचित परिवेश तथा घर की याद – इन दोनों के हाथ से छुटकारा दिलाने के लिए निवेदिता स्कूल तथा श्री सारदा मातृ-मन्दिर की अध्यक्ष भगिनी सुधीरा प्रतिदिन सन्ध्या का समय हमारे साथ बिताया करतीं थीं। वे अँगरेजी जानती थीं और हमें खूब उत्साहित किया करती थीं। हमारे बँगला न जानने के फलस्वरूप मानो अनिवार्य रूप से ही बच्चों की सीधी पद्धति से अँगरेजी सिखाने के उत्तरदायित्व हम पर आ पड़ा। दो-तीन महीनों के भीतर ही हमने बँगला भी सीख ली। भाषा के विषय में अब कोई समस्या नहीं रह गयी थी।

सम्भवत: विधि को यही मंजूर था कि दो-तीन महीने बाद ही हमारी माताजी से भेंट हो। क्योंकि यदि इसके पहले ही हमारी उनसे भेंट हो जाती, तो हमें दुभाषिये की सहायता लेनी पड़ती और हम दिल खोलकर बातें नहीं कर पातीं। हमारे कलकत्ता पहुँचने तथा माताजी के जयरामबाटी से लौटने के बाद उनसे भेंट – इन दोनों के बीच हमें बँगला सीखने का पर्याप्त समय मिल गया था। उनका दर्शन होने पर उन्होंने पहले ही जो बातें कहीं, वे इस प्रकार हैं, "बेटी, मैं तुम लोगों के लिए जयरामबाटी में प्रतीक्षा कर रही थी। तुम लोग आयी नहीं, इसीलिए मैं स्वयं ही तुम्हारे पास चली आयी।" मातृस्नेह से परिपूर्ण इन बातों ने हमारे हृदय में सिहरन उत्पन्न कर दी। जो कुछ अपरिचय का भाव था, वह भी लुप्त हो गया।

मातृमन्दिर से उद्बोधन पैदल ही जाया जाता था। मातृमन्दिर के अन्य लोगों

के साथ हम लोग प्रायः ही वहाँ जाकर माँ के दर्शन किया करती थीं। बीच बीच में जितना भी हो पाता, उनकी शारीरिक सेवा भी करतीं। माँ प्रतिदिन सुबह लगभग नौ बजे स्नान करने जाया करती थीं और उसके पहले मुझे उनके शरीर तथा सिर में तेल लगा देने को कहा गया था और यह मेरा परम सौभाग्य था। उस समय अनेक पके हुए बाल उनके सिर से निकल आते थे। मैं कभी उन्हें फेंकती न थी। उनके छोटे छोटे गुच्छे बनाकर मैं अपनी साड़ी की आड़ में छिपा लेती थी। माँ ने एक बार मुझे ऐसा करते देख लिया। उन्होंने हँसकर बताया कि उनके कितने ही बाल गिर चुके हैं और उन्होंने उन सबको फेंक दिया है। मैं उनके बाल इकट्ठे करने को इच्छुक हूँ, यह जानने के बाद से वे सारे बाल मुझे दे दिया करती थीं।

एक दिन सन्ध्या के लगभग सात बजे हमें श्री माताजी का दर्शन करने को बुलाया गया। उन्होंने हम लोगों से अपने सामने तमिल भाषा में बातें करने को कहा। फिर उन्होंने हमसे तमिल में कुछ भजन भी सुनाने को कहा। हमारा गाना सुनकर माँ प्रसन्न होकर हँसने लगीं। एक अन्य दिन हमारे विदा लेने के समय वे द्वार तक आयीं और राधू के लिए थोड़ा-सा दक्षिण भारतीय 'रसम' बनाकर भिजवाने को कहा। हमने जल्दी से रसम बनाकर उन्हें भिजवा दिया। उन्होंने एक अन्य दक्षिण भारतीय व्यंजन 'राइस अप्पलम्' (चावल के पापड़) खाने की इच्छा व्यक्त की थी। मेरे पिताजी ने उसे बनवाकर बंगलोर से रेल्वे पार्सल के द्वारा भेज दिया था। माँ ने अवश्य ही उसे खाकर आनन्द व्यक्त किया होता, परन्तु खेद की बात यह है कि कुछ पुरातनपन्थी महिलाओं ने उसके रेलगाड़ी से आया होने के कारण माँ को उसे नहीं खाने दिया।

एक बार एक बदलियों वाले दिन मैं माँ को प्रणाम करने उद्बोधन गयी थी। उन्होंने स्नेहपूर्वक मुझे स्वीकार किया। मैं उन दिनों उदरशूल से कष्ट उठा रही थी, इसलिए उस दिन उन्होंने खोद-खोदकर मेरे स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ की। आकाश में बादल छाये हुए थे, अतः उस दिन के मौसम की बंगलोर की जलवायु के साथ समानता थी। इस बात की ओर ध्यान जाने पर माँ ने मुझसे पूछा कि बंगलोर की आबोहवा भी क्या वैसी ही नहीं है ? इसके बाद वे बोलीं कि बंगलोर उन्हें बड़ा अच्छा लगा था। वहाँ के लोगों की प्रशंसा करते हुए माँ बोलीं कि उनमें खूब भक्ति है। १९१८ ई. में मातृमन्दिर की बालिकाओं को तीर्थ भ्रमण के लिए वाराणसी ले जाया गया था। वहाँ जाकर मुझे उदरशूल की तकलीफ हुई थी। हमारे लौट आने के कुछ समय बाद ही माँ को इसका समाचार मिला। जो बालिकाएँ उन्हें

प्रणाम करने गयी थीं, उनमें से एक से माँ ने मेरे स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ की और मेरे खाने के लिए तीन-चार सन्तरे भेज दिये थे। ऐसा था उनका मातृहृदय!

१९१८ ई० के मार्च में माँ जयरामबाटी से लौटीं। उसके बाद जब मैंने उनके सामने दीक्षा का प्रसंग उठाया, तो वे तुरन्त राजी हो गयीं। कहा कि अगले दिन ही दीक्षा होगी। परन्तु एक अन्य महिला बहुत दिनों से उनके पास दीक्षा पाने की आकांक्षी थीं। उन दिनों वे मातृमन्दिर की अन्य अन्तेवासियों के साथ खासिया पहाड़ की यात्रा पर गयी हुई थीं। इसी कारण मेरी दीक्षा का दिन भी स्थगित रह गया था। आखिरकार १९१८ ई. के जून में वह पवित्र अविस्मरणीय दिन आ पहुँचा। वह रथयात्रा का दिन था। उस दिन मेरे साथ मातृमन्दिर के और भी तीन जन ने माँ से दीक्षा प्राप्त की थी। हम लोग गंगास्नान के बाद नये कपड़े पहनकर सुबह के लगभग आठ बजे उद्‌बोधन गयी थीं। हमारे साथ और भी कुछ दीक्षार्थी थे और सबकी दीक्षा अपराह्न में दस बजे के भीतर ही सम्पन्न हो गयी। माँ ने एक एक का नाम लेकर बुलाया और दीक्षा दी। दीक्षा के बाद माँ ने जलपान किया और हम सबको अपना प्रसाद दिया गया। प्रसाद पाने के पहले हम सभी दीक्षित लोगों ने माँ के श्रीचरणों में फूल चढ़ाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। इसके बाद हम मातृमन्दिर लौट आयीं। दोपहर के भोजन के लिए हम पुनः उद्‌बोधन गयीं।

एक दिन मेरे मन में माँ की विशेष कृपा पाने की तीव्र आकांक्षा हुई। इसी उद्देश्य से एक दिन सन्ध्या के समय मैं माँ को प्रणाम करने गयी। उस दिन वहाँ जो भी लोग उपस्थित थे, माँ ने उन सबको 'सन्देश' का प्रसाद बाँटा। जब मेरी बारी आयी, तो प्रसाद उनके हाथों से फिसलकर उनके पाँव पर गिर पड़ा। उन्होंने वही उठाकर मुझे दिया। मैंने इस घटना को माँ की विशेष कृपा ही माना। माँ के इस वात्सल्य का निदर्शन मुझे एक बार और भी मिला था। एक दिन गंगास्नान करके मैं सीधे उन्हीं के पास गयी थी। मेरे केश भीगे हुए थे। माँ ने स्निग्ध भाव से कहा कि बालों के गीले रहने से मुझे सर्दी लग जाएगी। उन्होंने मेरे केश खोल दिये, ताकि वे सूख जायँ। एक अन्य दिन जलपान के पूर्व ही माँ को देखने की इच्छा हुई। उद्देश्य था मातृदर्शन के पूर्ण आध्यामिक फल की प्राप्ति। माँ ने पहले ही जो प्रश्न किया उसे सुनकर मैं अवाक् रह गयी। उन्होंने पूछा कि मैं जलपान करके आयी हूँ या नहीं। उन्होंने मुझे खाने को कुछ प्रसाद दिया और तत्पश्चात् मेरे साथ बातें करने लगीं। एक दिन माँ ने अपना नील-हरित रंग का शाल सिलाई के लिए मेरे पास भेज दिया। सिलाई करते समय एक तिकोना टुकड़ा बढ़ जाने के कारण उसे काटकर निकाल

देने की आवश्यकता पड़ी। शाल को उसी के अनुसार छाँटकर ठीक कर लिया गया। माँ के आशीर्वाद के चिह्नस्वरूप आज भी वह टुकड़ा मेरे पास यत्नपूर्वक रखा है।

हमें घर छोड़कर आये दो वर्ष से भी अधिक हो चुका था। स्वामी सारदानन्दजी को लगा कि जलवायु-परिवर्तन के लिए हमारा घर जाना आवश्यक है। जाने की सारी व्यवस्था कर ली गयी। यद्यपि हमारी इच्छा न थी, तो भी हम अपने बड़ों के निर्देशानुसार ही चला करती थीं। यात्रा के दिन हम माँ का आशीर्वाद लेने उनके पास गयीं। उन्होंने न केवल हमें आशीर्वाद दिया, अपितु थोड़ी मिश्री तथा ठाकुर का निर्माल्य देते हुए यथाशीघ्र लौट आने के लिए भी कहा।

बंगलोर में हमने केवल बीस दिन ही बिताये। क्योंकि हमें समाचार मिला कि माँ काफी अस्वस्थ और बिस्तर पकड़े हुए हैं। हम तत्काल वापस कलकत्ते लौट पड़ीं। वहाँ पहुँचते ही हम माँ को प्रणाम करने उनके पास गयीं। माँ शय्याशायी होने पर भी काफी सजग थीं। उन्होंने वहाँ के सभी लोगों की खोज-खबर ली। माँ का स्वास्थ्य दिन-पर-दिन खराब होने लगा और उनकी सारे समय देखभाल करने के लिए एक सेविका की आवश्यकता हुई। प्रव्राजिका भारतीप्राणा (सरला देवी) ने माँ की सेवा-सुश्रूषा का भार ग्रहण किया। इन्होंने बड़े यत्नपूर्वक धात्रीविद्या सीखी थी। मातृ-मन्दिर में वे हमारे साथ एक ही कमरे में रहती थीं। मातृमन्दिर की बालिकाओं को पारी बाँधकर माँ के पास रात में जागने तथा उनकी सेवा में नियुक्त किया गया। मेरा समय रात दो बजे से भोर में चार बजे तक था। सेवा के लिए जिसे भेजा जाता, माँ उसका नाम पूछतीं। मुझे वे सिर से लेकर पाँव तक पूरे शरीर पर हाथ फेरने को कहा करती थीं। हम सर्वदा बड़ी सतर्क रहती थीं। क्योंकि थोड़ी भी आवाज होने से बगल के कमरे से स्वामी सारदानन्द का कण्ठस्वर सुनाई देता कि क्या हुआ है। उसी तरह की एक रात माँ को थोड़ा विकार जैसा हुआ था। कभी कहतीं — बेलूड़ मठ जाऊँगी, तो कभी — बंगलोर जाऊँगी। मैंने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा — पहले ठीक हो जाइये, फिर उन सब स्थानों को जाना होगा। यह सुनकर वे शान्त हो गयीं।

माँ मसहरी के भीतर सोयी रहती थीं, इसलिए मैं उसके भीतर घुसकर सेवा करती थी। अनेकों बार उन्होंने मुझको अपने पास ही चटाई पर सो जाने को कहा था। (जब उनकी बीमारी खूब बढ़ गयी, तब उन्हें खाट से फर्श पर चटाई बिछाकर वहीं स्थानान्तरित कर दिया गया।) यद्यपि यह एक परम सुयोग था, तो भी मैं हमेशा आगा-पीछा करती और मन-ही-मन अत्यन्त भयभीत होती। मेरा यह

परम सौभाग्य है कि मुझे भारतीप्राणा के साथ एक ही कमरे में रहने का अवसर मिला था। वे माँ की सेवा-सुश्रूषा करती थीं, इस कारण उन्हें माँ के नख काटने और उनके हाथ-पाँव तथा शरीर दबाने का मौका भी मिलता था। इन्हीं अवसरों का लाभ उठाकर वे माँ के नख, केश आदि एकत्र करके रख देतीं। भारतीप्राणा के संग्रह में माँ के जो नख-केश आदि थे, मेरे अनुरोध करने पर वे तत्काल मुझे दे देतीं। उन्हीं पवित्र स्मृतिचिह्नों की अब बंगलोर के मातृमन्दिर में पूजा होती है। माँ की सेवा-सुश्रूषा के समय एक बार बैज बनाने के लिए उनकी एक पुरानी साड़ी प्राप्त हुई। मुझे उसे फाड़कर टुकड़े बनाने को कहा गया था। अन्त में किनारी के साथ केवल एक टुकड़ा बचा। मैंने उसे पवित्र स्मृतिचिह्न के रूप में रख लिया था।

१९११ ई. में माँ जब बंगलोर आयी थीं, तब उनके पाँवों का जो छाप लिया गया था, वह भी (बंगलोर के) मातृमन्दिर में सुरक्षित रखा हुआ है।

माताजी की हालत दिन-पर-दिन तेजी से खराब होने लगी। महासमाधि के तीन दिन पहले से हम लोगों को उनके पास रहने नहीं दिया जाता था। हम केवल उनके दर्शन करके मातृमन्दिर लौट आती थीं। आखिरकार एक दिन भोर में गोलाप-माँ ने मेरे कानों में कहा -- अवश्यम्भावी मर्मान्तक घटना हो चुकी है। इसके बाद हमने महासमाधि में मग्न माँ के स्निग्ध मुखश्री का दर्शन किया। उनके नश्वर शरीर को बेलूड़ मठ लाया गया। हम भी बेलूड़ मठ के लिए चल पड़ीं। माँ को स्नान कराने का भार हमें सौंपा गया था। स्नान हो जाने पर माँ के शरीर को चिता पर सुलाकर अग्नि दी गयी। उनकी सभी बच्चियों को चिता पर घी तथा अन्य उपकरण ढालने का सुअवसर मिला। जब मैं उस पर घी आदि ढाल रही थी, तो चिता से अग्नि की एक शिखा उठकर मेरा हाथ छू गयी। माँ के उस अन्तिम स्पर्श का मैंने दीर्घकाल तक अनुभव किया है। ऐसे अवसरों पर जैसी की प्रथा है, उनकी सभी बच्चियों ने उपवास किया था। हम दिन में केवल एक बार हविष्यान्न ग्रहण करती थीं; रात थोड़े से फल खाकर निकाल देतीं। श्री माँ का जो पूत सान्निध्य मुझे मिला था, स्थूल जगत् में इसी प्रकार उसकी परिसमाप्ति हुई।

जब मैं माँ के पास प्रतिदिन जाया करती थी, तब एक दिन उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक मुझसे कम-से-कम एक बार जयरामबाटी देख आने को कहा था। १९४१ ई. में माँ की यह इच्छा पूर्ण हुई। वहाँ मैं बीस दिन रही। वे दिन बड़े आनन्दपूर्वक बीते थे। ☆ (**'शतरूपे सारदा' से नामक बँगला ग्रन्थ से अनुवादित**)

माँ के सान्निध्य में (३८)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। — सं.)

अक्तूबर-नवम्बर १९१४

हमारे बालीगंज के निवास पर काफी फूल होते थे। फूल पाकर माँ बड़ी प्रसन्न होती थीं, इस कारण एक दिन सुबह ही मैं बहुत से फूल एकत्र करके माँ के पास गयी। देखा कि माँ अभी पूजा के आसन पर ही बैठी हैं। मेरे द्वारा फूल सजा देने पर वे बड़े आनन्दपूर्वक पूजा में बैठीं। पारिजात के फूल देखकर उन्होंने कहा, "ये फूल लाकर तुमने बहुत अच्छा किया। कार्तिक के महीने में पारिजात के फूलों से पूजा करनी चाहिए। इस बार आज तक ठाकुर को ये फूल नहीं दिये जा सके थे।"

मैंने आज माँ की सेवा के लिए अलग से फूल नहीं रखे थे, इसीलिए सोचने लगी, "आज लगता है, माँ की पूजा नहीं हो सकेगी।" परन्तु बाद में मैंने देखा कि मेरे मन में ऐसा विचार आने के पूर्व ही माँ ने सारी बातें सोच रखी हैं।

क्योंकि उनके पूजा में बैठते समय मैंने देखा कि समस्त फूलों को चन्दन से चर्चित कर मंत्र द्वारा पुष्पशुद्धि करने के पूर्व ही उन्होंने कुछ फूल थाले में एक ओर अलग रख लिए हैं। बाद में पूजा समाप्त होने के बाद वे उठकर बोलीं, "आओ बेटी, उस थाले में तुम्हारे लिए फूल रखे हैं, ले आओ।" उसी समय एक भक्त बहुत से फल लेकर माँ का दर्शन करने को उपस्थित हुए। भक्त को देखकर माँ को अपार आनन्द हुआ। उन्होंने उनके मस्तक पर चन्दन का टीका लगाने के बाद उनकी ठोढ़ी का स्पर्श किया। किसी पुरुष भक्त के प्रति स्नेह जताते अभी तक मैंने माँ को देखा नहीं था। इसके बाद वे मुझसे बोलीं, "बेटी, अपने उन फूलों में से चार उसे भी दो।" मेरे देने पर भक्त ने अंजली बनाकर फूल ले लिए। देखा कि भक्ति के आवेग से उस समय उनका सर्वांग काँप रहा है। उन्होंने आनन्दपूर्वक माँ के चरणों में पुष्पांजलि दी और प्रसाद लेकर बाहर चले गये। सुना कि वे राँची से आये हैं। अब तख्त पर बैठकर माँ ने मुझे स्नेहपूर्वक बुलाकर कहा, "अब आओ, बेटी।" उनके चरणों में अंजली देकर उठते ही माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। इसके बाद हम लोग पान लगाने गयीं। पान लगाने के पाद आकर माँ को खोजते हुए मैंने देखा कि वे छत पर केश सुखा रही हैं। मुझे देखकर वे बोलीं, "आओ, सिर का वस्त्र उतार दो, बाल

सुखा लो, इस प्रकार केश गीले मत रखना, नहीं तो सिर में जल घुस जाने से आँखें खराब हो जाती हैं।"

इसी बीच एक अन्य भक्त-महिला भी वहाँ उपस्थित हुई। छत पर बहुत से कपड़े सूख रहे थे, माँ ने मुझे उन्हें उतारने तथा समेटकर रख देने को कहा। मैं कपड़े उतार रही थी, उसी समय गोलाप-माँ ने माँ को पुकारकर नीचे आने को कहा, क्योंकि ठाकुर को भोग देने का समय हो गया था। माँ नीचे चली गयीं। मैंने भी थोड़ी देर बाद मन्दिर में जाकर देखा कि माँ सलज्ज बधू के समान ठाकुर को कह रही हैं, "आओ, खाने चलो।" इसके बाद गोपाल विग्रह के पास जाकर कह रही हैं, "आओ गोपाल, खाने चलो।" मैं तब उनके पीछे खड़ी थी। सहसा मेरे ऊपर दृष्टि जाते ही वे हँस कर बोलीं, "सबको खाने के लिए बुलाकर ले जा रही हूँ।" इतना कहकर माँ भोग के कमरे की ओर चलीं। उनका उस समय का भाव देखकर ऐसा लग रहा था कि सभी देवतागण उनके पीछे पीछे चल रहे हैं। देखकर मैं थोड़ी देर स्तम्भित खड़ी रही। (सबसे दक्षिण की ओर स्थित) भोग के कमरे से लौटकर माँ निकट के कमरे में सबको साथ लिए प्रसाद पाने बैठीं। भोजन के उपरान्त मैंने पास के कमरे में उनका बिस्तर लगा दिया, माँ लेट गयीं। समीप बैठते ही माँ बोलीं, "लेट जाओ, अभी अभी तो खाकर उठी हो।" मैं लेट गयी, माँ को थोड़ी-सी तन्द्रा जैसी आयी थी, तभी बलराम बाबू के घर का नौकर 'ठाकुर-माँ, ठाकुर-माँ' कहकर पुकारते हुए मन्दिर में कुछ सीताफल रख गया। वह एक टोकरी में सीताफल लाया था। नीचे जाकर उसने साधुओं से पूछा कि वह टोकरी का क्या करे। उन लोगों ने कहा, "उसका और क्या होगा, बाहर फेंक दो।" उसके फेंककर जाते ही माँ उठीं और मन्दिर के सड़क की ओर के बरामदे में जाकर मुझे बुलाकर कहने लगीं, "देखा, कितनी सुन्दर टोकरी थी! इन लोगों ने उसे फेंक देने को कहा। इनका क्या? साधु लोग हैं, उन सब के लिए भी क्या उनमें माया है? परन्तु मुझे तो छोटी-सी चीज की बरबादी भी सहन नहीं होती। वह रहने से उसमें सब्जी के छिलके ही रखे जा सकते थे।" यह कहकर उन्होंने टोकरी को मँगवाया और उसे धुलवाकर रख दिया। माँ के इस कथन तथा कार्य से मुझे एक बड़ी शिक्षा मिल गयी, परन्तु स्वभाव तो मरने पर भी नहीं छूटता।

थोड़ी देर बाद नीचे एक भिक्षुक आकर 'भिक्षा दो' की गुहार लगाने लगा। साधु लोग नाराज होकर उसे भगाते हुए कह रहे हैं, "जा, अभी परेशान मत कर।" इसे सुनकर माँ बोलीं, "देखा, भिखारी को भगा दिया! इसीलिए न कि अपना काम छोड़ थोड़ा उठकर भिक्षा देनी होगी। आलस्य के कारण इतना भी नहीं कर सका। भिखारी को एक मुट्ठी भिक्षा भी नहीं दे सका। जिसका जो प्राप्य है, उससे उसे वंचित करना

क्या उचित है ? ये जो सब्जी के छिल्के हैं, यह भी गाय का प्राप्य है। इसे भी गाय के मुख के पास रखना चाहिए।"

दिन प्रायः बीत चुका था और मेरे लौटने का समय हो चला था। माँ को प्रणाम कर थोड़ा-सा प्रसाद लेने के बाद मैंने विदा ली।

वर्ष १९१७

आज संध्या को गयी थी। सामिप्य रहेगा, यही सोचकर मैं अब बागबाजार के मकान में रहती हूँ और प्रायः प्रतिदिन ही शाम को माँ के पास जाती हूँ। एकान्त पाकर आज मैंने उन्हें अपने एक स्वप्न का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा, "माँ, एक दिन मैंने स्वप्न देखा – आप उस समय जयरामबाटी में थीं, मैं मानो वहीं गयी हूँ। ठाकुर को सामने देखकर मैंने उन्हें प्रणाम करके पूछा, 'माँ कहाँ हैं ?' वे बोले, 'उसी गली को पकड़कर चली जा, वह छप्परवाले मकान में सामने के बरामदे में बैठी है'।" माँ लेटी हुई थीं, उत्साह में उठकर बैठ गयीं और बोलीं, "ठीक है बेटी, तुमने ठीक ही तो देखा है।"

मैं – तो ठीक है, माँ ? परन्तु मेरी तो अब तक धारणा थी कि आपके मायके में ईंट का मकान है। इसीलिए मिट्टी का आंगन तथा खर की झोपड़ी देखकर मैंने उसे मन का भ्रम समझा था। "भगवान की प्राप्ति के लिए तपस्या की आवश्यकता है" – इसी प्रसंग में अब माँ ने कहा, "अहा, गोलाप, योगीन – इन लोगों ने कितना ध्यान-जप किया है ! योगीन ने कितने ही बार चातुर्मास्य किया है, एक बार तो वह केवल कच्चा दूध तथा फल खाकर रही थी। अब भी कितना ध्यान-जप करती है ! गोलाप के मन में विकार नहीं है, देने से हो सकता है कि दुकान का थोड़ा-सा आलूदम भी खा ले !"

आज माँ के घर में काली-कीर्तन होगा। मठ के संन्यासी महाराजगण ही कीर्तन करेंगे। रात के लगभग साढ़े आठ बजे कीर्तन आरम्भ हुआ। महिलाओं में से कई भजन सुनने के लिए बरामदे में चली गयीं। मैं माँ के पाँवों में तेल का मालिश कर रही थी। वहाँ से भी भलीभाँति सुनाई दे रहा था। ये सब भजन और भी कितने ही बार सुना है, परन्तु भक्तों के मुख से भजन की शक्ति कुछ अलग ही होती है – कितना भावपूर्ण लग रहा था ! आँखों में आँसू आ गये। ठाकुर जो भजन गाया करते थे, बीच बीच में उनमें से भी दो-एक हो रहा है। माँ उत्साहपूर्वक कहने लगीं, "यही है, इसी को ठाकुर गाया करते थे।" इसके बाद जब 'मगन हुआ मेरा मन भौंरा, काली-पद के नीलकमल में' भजन आरम्भ हुआ, तो माँ फिर लेटी नहीं रह सकीं – उनके नेत्रों में दो-एक बूँद अश्रु आ गये, उठकर बोलीं, "चलो बेटी, बरामदे में जाकर

सुनें।" कीर्तन हो जाने के बाद मैं माँ को प्रणाम करके घर लौटी।

मई १९१८

बैशाख के महीने में माँ जयरामबाटी से लौटी हैं। मलेरिया बुखार से उनका शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया है। उनके थोड़ा स्वस्थ हो जाने पर ही मिलने जाना उचित समझकर और उनकी अस्वस्थता के कारण तब भी दर्शन करने की अनुमति नहीं दी जा रही है, सुनकर इतने दिन उन्हें देखने नहीं गयी थी। परन्तु "महिलाओं के आने में कोई आपत्ति नहीं है" — आज इस आशय का पत्र पाकर मैं गयी और देखा कि माँ बगल के कमरे में लेटी हुई हैं। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो चुका था। मुझे देखते ही वे बोलीं, "आओ बेटी, इतने दिनों बाद आयी हो !"

मैं — हाँ माँ, पहले ही आती, परन्तु सुना कि अब भी आपकी अस्वस्थता के कारण आपके भक्त-सन्तान सबका अबाध रूप से आना पसन्द नहीं करते, इसीलिए मैं इतने दिन नहीं आयी। आपके लिए हमारे प्राण छटपटाते रहते हैं और आप इतने दिन अपने पित्रालय जाकर हमें बिल्कुल ही भूल गयी थीं। सो आपके तो सर्वत्र ही पुत्र-पुत्रियाँ है, कोई अभाव नहीं है।

माँ ने हँसकर कहा, "नहीं, नहीं, तुममें से किसी को भी मैं भूली नहीं थी, सबको याद आयी थी।"

मैं — आपकी अस्वस्थता की बात सुनकर हम लोग तो भय से ही मर जाते हैं, न जाने कैसी हैं।

माँ — पहले से काफी ठीक हूँ बेटी, देखो न हाथ-पाँव से कैसे छाल उतरती जा रही है।

मैंने पाँवों में हाथ लगाकर देखा कि सचमुच वैसी ही बात थी।

एक वस्त्र ले गयी थी। देते ही माँ ने कहा, "अच्छा कपड़ा लायी हो बेटी, इस बार कपड़े कम भी हैं, पूजा के समय इस बार यहाँ नहीं थी। बहू उस दिन आयी थी। वे सब अच्छी तरह हैं न ?" फिर श्रीमान शोकहरण के बारे में पूछते हुए वे बोलीं, "उसका इस समय किस प्रकार चल रहा है ? इस समय काम-काज, नौकरी कुछ भी तो नहीं है। कैसा मुआ युद्ध लगा है ! न जाने कब थमेगा, तो लोग खाने-पहनने को पाकर बचेंगे ! सो यह युद्ध प्रारम्भ क्यों हुआ, बोलो तो बेटी ?" मैंने समाचार-पत्रों में जो कुछ पढ़ा था, वही थोड़ा-बहुत बताने लगी। ज्यादा बातें करने पर कहीं उनकी बीमारी बढ़ न जाय — यही सोचकर आज मैंने थोड़ी देर रहने के बाद ही विदा ली। ☆ (क्रमशः)

हिमालय में स्वामीजी का विश्राम

मोहन सिंह मनराल

पश्चिमी देशों में अपनी धार्मिक दिग्विजय के सफल संचालन के उपरान्त युगनायक विवेकानन्द जब १८९७ ई. में मातृभूमि लौटे, तो भारत की अपार जनता उन्हें देखने और सुनने को अतीव उत्सुक थी। पूरे भारत में जगह जगह से उन्हें आमंत्रण मिले थे। कोलम्बो में भारतभूमि पर अवतरण करने के बाद से ही उन्हें अनेक स्थानों का दौरा करना पड़ा और जगह जगह उनके सम्मान में सभाएँ आयोजित करके उनका अभिनन्दन किया गया तथा मानपत्र दिये गये। इन मानपत्रों के उत्तर में उन्होंने प्रत्येक स्थान पर सभा को सम्बोधित किया। अपनी अग्निमयी ओजस्वी वाणी से उन्होंने मानो पूरे भारत को झकझोर डाला था। 'कोलम्बो से अल्मोड़ा तक' दिये हुए उनके ये प्रेरणादायी भाषण बाद में 'भारतीय व्याख्यान' के नाम से प्रकाशित हुए है। अपनी मातृभूमि को जगाने में इस प्रकार अथक परिश्रम ने उन्हें शारीरिक और मानसिक रूप से काफी थका दिया था। और उनका स्वास्थ्य निरन्तर चौपट होता जा रहा था। इस कारण चिकित्सकों ने उन्हें विश्राम की सलाह दी थी। जलवायु-परिवर्तन तथा विश्राम के लिए स्वामीजी पहले तो दार्जिलिंग गये। फिर मई के प्रारम्भ में वहाँ से लौटकर ६ मई को उन्होंने उत्तराखण्ड की ओर प्रस्थान किया।

११ मई को अल्मोड़ा पहुँचकर वहाँ का नागरिक अभिनन्दन स्वीकार करने तथा व्याख्यान देने के बाद उन्होंने कुछ दिन वहीं बिताए। इसके लगभग एक सप्ताह बाद वे नगर से दूर देउलधार में स्थित एक उद्यान में चले गये, जहाँ उन्होंने एक से डेढ़ माह तक विश्राम किया था। इस स्थान तक सड़क मार्ग से पहुँचने के लिए अब अल्मोड़ा नगर से ७५ कि.मी. की दूरी तय करनी पड़ती है। परन्तु जंगलों के भीतर से होकर आनेवाली पगडण्डी से होकर यह दूरी केवल २० मील ही पड़ती है। पहाड़ी ढलान पर स्थित इस उद्यान में पहुँचने के लिए स्वामीजी ने इसी वन्य मार्ग पर घुड़सवारी की थी।

स्वामीजी जब १८९७ ई. में वहाँ स्वास्थ्य-लाभ करने गये थे, उस समय यह उद्यान अल्मोड़ा के एक धनी व्यापारी श्री चिरंजीलाल शाह की सम्पत्ति था। अल्मोड़ा में स्वामीजी के विशेष अनुरागी लाला बद्रीशाह द्वारा ही सम्भवतः उनके एकान्तवास के लिए यह व्यवस्था की गयी होगी। उन दिनों इस स्थान के आसपास घने वन थे, जिनमें पाइन व देवदार के वृक्षों का बाहुल्य था। साथ ही उद्यान में खुबानी तथा अन्य फलों के वृक्ष और दो बड़े भवन थे, जो आज भी जीर्ण अवस्था में विद्यमान हैं।

इस दो भवनों में से एक का 'विश्रामगृह' के रूप में उपयोग होता था, जिसमें

आगन्तुक निवास करते थे। लाल रंग की टीनों से आच्छादित और अधिकांशतः लकड़ियों से बने इस विश्रामगृह में ही लगता है स्वामीजी ने निवास किया था। इसमें दो बड़े कमरे और उनके चारों ओर गलियारा बना हुआ है। यहाँ से हिमालय की बर्फीली चोटियाँ साफ नजर आती हैं और यह स्थान अल्मोड़ा की अपेक्षा अधिक ठण्डा है। जाड़ों में आग जलाने के लिये कमरे में अंगीठी तथा चिमनी की व्यवस्था है।

वहाँ से लिखे स्वामीजी के अनेक पत्र उनकी ग्रन्थावली में हैं, जिनसे हम अनुमान कर सकते हैं कि वहाँ उनका समय किस प्रकार बीता होगा। प्रस्तुत हैं कुछ अंश –

२० मई । "मैं अब पूर्णतया स्वस्थ हूँ; सिर्फ रास्ते के कुछ थकावट है – वह भी दो-चार दिनों में दूर हो जायगी। ... अल्मोड़ा में अत्यधिक गर्मी होने की वजह से मैं वहाँ से बीस मील दूर एक सुन्दर बगीचे में रह रहा हूँ; यह स्थान वहाँ से ठण्डा अवश्य है, किन्तु गर्मी यहाँ भी है। जहाँ तक गर्मी का सवाल है, कलकत्ते से यहाँ में कोई खास अन्तर नहीं है। ... मुझे अब बुखार नहीं आता। और भी ठण्डे स्थान में जाने का प्रयास कर रहा हूँ। गर्मी तथा चलने के श्रम से 'लीवर' की क्रिया में तुरन्त गड़बड़ी होने लगती है। यहाँ पर इतनी सूखी हवा चलती है कि दिन-रात नाक में जलन होती रहती है और जीभ भी लकड़ी जैसी सूखी बनी रहती है। ... देश के इस भाग में बीमारी यहाँ के रंग-ढंग अपना लेती है और देश के उस भाग में वहाँ के। रात में अल्प भोजन करने की सोच रहा हूँ; सुबह तथा दोपहर में भरपेट भोजन करूँगा और रात में फल, दूध आदि लूँगा। ... तुम डरते क्यों हो ? क्या इस दानव की मृत्यु इतनी जल्दी हो सकती है ? अभी तो केवल सांध्यदीप भर जलाया गया है, रात भर गाना बाकी है। आजकल मेरा मिजाज भी ठीक है, मैं भलीभाँति जानता हूँ कि बुखार भी केवल लीवर के कारण ही है। उसे भी मैं दुरुस्त कर दूँगा। डरने की क्या बात ?"

२९ मई । "दवा की दो बोतलें यथासमय प्राप्त हुईं। कल सायंकाल से तुम्हारी दवा की परीक्षा चालू कर दी है। आशा है कि एक दवा की अपेक्षा दोनों को मिलाने अधिक असर होगा। सुबह-शाम घोड़े पर सवार होकर मैंने पर्याप्त रूप से व्यायाम करना आरम्भ कर दिया है और उसके बाद से मैं सचमुच ही बहुत अच्छा हूँ। व्यायाम शुरू करने के बाद पहले सप्ताह में ही मैं इतना स्वस्थ अनुभव करने लगा, जितना कि बचपन के कुश्ती लड़नेवाले दिनों को छोड़ मैंने कभी महसूस नहीं किया था। सचमुच ही उन दिनों मुझे लगता था कि शरीरधारी होना एक आनन्द की बात है। तब शरीर की प्रत्येक क्रिया में मुझे शक्ति का आभास मिलता था और अंग-प्रत्यंग के संचालन में सुख की अनुभूति होती थी। वह अनुभव अब काफी कुछ घट चुका है, फिर भी मैं अपने को शक्तिशाली अनुभव करता हूँ। जहाँ तक ताकत का सवाल है, जी. जी.

तथा निरंजन दोनों को मैं देखने-ही-देखते मैं धरती पर पछाड़ सकता था। ... यहाँ पर मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मुझमें कोई रोग ही नहीं है। लेकिन एक उल्लेखनीय परिवर्तन दिखायी दे रहा है। बिस्तर पर लेटते ही मुझे कभी नींद नहीं आती थी — घण्टे, दो घण्टे तक मुझे करवटें बदलनी पड़ती थी। केवल दार्जिलिंग से मद्रास तक तकिये पर सिर रखते ही मुझे नींद आ जाती थी। वह सुलभ निद्रा अब एकदम गायब हो चुकी है और इधर-उधर करवट बदलने की मेरी वह पुरानी आदत तथा रात में भोजन के बाद गर्मी लगने की अनुभूति पुनः वापस लौट आयी है। दिन में भोजन के बाद कोई खास गर्मी नहीं लगती।

"यहाँ पर एक फल का बगीचा है, अतः यहाँ आते ही मैंने खूब फल खाना प्रारम्भ कर दिया, लेकिन यहाँ खुबानी के सिवाय और कोई फल नहीं मिलता। नैनीताल से मैं अन्य फल मँगवाने का प्रयास कर रहा हूँ। यद्यपि दिन में यहाँ गर्मी अधिक है, फिर भी प्यास नहीं लगती। ... साधारणतया यहाँ पर मुझे शक्तिवर्धन के साथ-ही-साथ प्रफुल्लता तथा विपुल स्वास्थ्य का अनुभव हो रहा है। चिन्ता की बात केवल इतनी ही है कि अधिक मात्रा में दूध लेने के कारण चर्बी की वृद्धि हो रही है। ... हाँ, एक बात और है, मैं आसानी से मलेरियाग्रस्त हो जाता हूँ — अल्मोड़ा आते ही जो पहले सप्ताह में मैं बीमार पड़ गया था, उसका कारण शायद तराई की तरफ से होकर आना ही था। खैर, इस समय तो मैं अपने को अत्यन्त बलशाली अनुभव कर रहा हूँ। ... डॉक्टर, आजकल जब मैं बर्फ से ढँके हुए पर्वतशिखरों के सम्मुख बैठकर उपनिषद् के इस अंश का पाठ करता हूँ — **न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्** (जिसने योगाग्निमय शरीर प्राप्त कर लिया है, उसके लिए जरा-मृत्यु कुछ भी नहीं है।) उस समय यदि तुम मुझे देख पाते !"

१ जून । "आजकल मैं एक व्यापारी के बाग में रह रहा हूँ, जो अल्मोड़े से कुछ दूर उत्तर में है। हिमालय के हिमशिखर मेरे सामने हैं, जो सूर्य के प्रकाश में रजतराशि के समान आभासित होते हैं, और हृदय को आनन्दित करते हैं। शुद्ध हवा, नियमित भोजन और यथेष्ट व्यायाम करने से मेरा शरीर बलवान तथा स्वस्थ हो गया है।"

२ जून । "आजकल तो भारत का मैदानी प्रदेश आग-सा तप रहा है। मैं वह गर्मी बर्दाश्त नहीं कर सकता, इसीलिए इस पर्वतीय स्थान में हूँ। मैदानों की अपेक्षा यह थोड़ा ठण्डा है। मैं एक सुन्दर बाग में रहता हूँ, जो अल्मोड़े के एक व्यापारी का है — बाग कई मील तक पहाड़ों और वनों को स्पर्श करता है। परसों रात में एक चीता यहाँ आ धमका और बाग में रखी भेड़-बकरियों के झुण्ड में से एक बकरा उठा ले गया। नौकरों का शोरगुल और रखवाली करनेवाले तिब्बती कुत्तों का भूँकना बड़ा ही भयावह था। जब से मैं यहाँ ठहरा हूँ, तब से ये कुत्ते रात भर कुछ

दूर जंजीरों से बाँधकर रखे जाते हैं, ताकि उनके भूँकने की जोर की आवाज से मेरी नींद में खलल न पड़े। इससे चीते का दाँव बैठ गया और उसे शायद हफ्तों बाद उसे बढ़िया भोजन मिल गया।

"कुमारी मूलर यहाँ कुछ दिनों के लिए आयी हैं और जब उन्होंने चीतेवाली घटना सुनी, तो डर गयीं। लन्दन में सिझायी हुई खालों की बड़ी माँग जान पड़ती है और अन्य बातों की अपेक्षा इस कारण हमारे यहाँ के चीतों और बाघों पर विपत्ति उमड़ पड़ी है।

"इस समय जब मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ, तो मेरे सम्मुख विशाल बर्फीली चोटियों की लम्बी लम्बी कतारें खड़ी दिखायी पड़ रही हैं, जो अपराह्न की तापोज्ज्वलता परावर्तित कर रही हैं। वे यहाँ से नाक की सीध में लगभग २० मील की दूरी पर हैं और चक्करदार पहाड़ी मार्गों से जाने पर वे चालीस मील दूर पड़ेंगी।

"जो भी हो, मैं अति वांछनीय विश्राम ले रहा हूँ। आशा है, इससे मुझे लाभ होगा। क्या तुम पर्याप्त विश्राम करना पसन्द नहीं करती – मान लो कुछ साल का विश्राम – और कोई काम न करना पड़े ? बस सोना, खाना और कसरत करना; कसरत करना, खाना और सोना – यही आगे कुछ महीनों तक मैं करने जा रहा हूँ। श्री गुडविन मेरे साथ हैं। तुम्हें उनको भारतीय पोशाक में देखना चाहिए था। मैं बहुत जल्द उनका मुण्डन करवाकर उन्हें पूरा संन्यासी बनाने जा रहा हूँ। यहीं मेरे पत्र का अन्त होता है, क्योंकि भारी अन्धड़ चल रहा है और लिखना असम्भव है।"

३ जून। "जहाँ मैं अभी निवास कर रहा हूँ, वह एक सुन्दर पहाड़ी उद्यान है। उत्तर में, प्रायः क्षितिज तक विस्तीर्ण हिमाच्छादित हिमालय के शिखर-पर-शिखर दिखायी देते हैं। वे सघन वनों से परिपूर्ण हैं। यहाँ न ठण्ड है, न अधिक गर्मी; प्रातः और सायं अत्यन्त मनोहर हैं। मैं गर्मी भर यहीं रहूँगा और वर्षा के आरम्भ में काम करने नीचे जाना चाहता हूँ। निर्जन में शान्तिपूर्वक पुस्तकें लेकर अध्ययन में लीन रहने के लिए ही मैंने जन्म लिया था, परन्तु जगदम्बा का विधान कुछ दूसरा ही है। तथापि वह प्रवृत्ति अभी भी है।"

१९ जून को अल्मोड़ा लौटकर उन्होंने लिखा – "मैं अब पूर्ण स्वस्थ हूँ। शरीर में ताकत भी खूब है; प्यास नहीं लगती और रात में पेशाब के लिए उठना भी नहीं पड़ता। कमर में दर्द-वर्द नहीं है; लीवर की क्रिया भी ठीक है। शशि की दवा से मु- कोई खास असर होता नहीं लगा, अतः वह दवा लेना मैंने बन्द कर दिया है। पर्याप्त मात्रा में आम खा रहा हूँ। घोड़े की सवारी का अभ्यास भी विशेष रूप से चालू है – लगातार बीस-तीस मील तक दौड़ने पर भी किसी प्रकार के दर्द अथवा थकान

का अनुभव नहीं होता । पेट बढ़ने की आशंका से दूध लेना बिल्कुल बन्द है । कल अल्मोड़ा पहुँचा हूँ । पुनः बगीचे में लौटने का विचार नहीं है ।"

९ जुलाई । "इस समय मेरा स्वास्थ्य अति उत्तम है । कल मैं फिर देउलधार जाऊँगा ।"

१० जुलाई । "पहले की ही तरह मैं शक्तिशाली हूँ; किन्तु मेरा स्वास्थ्य कैसा रहेगा, यह भविष्य के समस्त झमेलों से मुक्त रहने पर निर्भर करता है । अब और अधिक दौड़धूप उचित नहीं होगी । इस वर्ष तिब्बत जाने की प्रबल इच्छा थी, किन्तु इन लोगों ने जाने की अनुमति नहीं दी, क्योंकि वहाँ का रास्ता अत्यन्त श्रमसाध्य है । अतः खड़े पहाड़ पर पूरी रफ्तार से पहाड़ी घोड़ा दौड़ाकर ही मैं सन्तुष्ट हूँ । मीलों तक पहाड़ी के ऊपर और मीलों तक पहाड़ी के नीचे जाता हुआ रास्ता, जो कुछ ही फुट चौड़ा होगा, मानो खड़ी चट्टानों और हजारों फुट नीचे के गड्ढों के ऊपर लटकता रहता है ।"

१३ जुलाई, देउलधार । "अच्युत और मैं यहाँ पर फिर लौट आये हैं । धूप में गर्दनतोड़ रफ्तार से घोड़ा दौड़ाकर कारण आज मेरा शरीर कुछ खराब है । करीब दो सप्ताह शशि बाबू की दवा लेकर भी विशेष कोई लाभ नहीं प्रतीत हो रहा है । लीवर का दर्द नहीं है और पर्याप्त कसरत करने से हाथ-पाँव विशेष मजबूत हो गये हैं: किन्तु पेट काफी फूल रहा है, उठने-बैठने में साँस की तकलीफ होती है । सम्भवतः यह दूध पीने का फल है; शशि से पूछना कि दूध छोड़ा जा सकता है या नहीं ? पहले दो बार मुझे लू लग गयी थी । तब से धूप लगने पर आँखें लाल हो जाती हैं और दो-चार दिन तक लगातार शरीर अस्वस्थ रहता है ।"

★ ★ ★

वर्तमान लेखक को दो सहयात्रियों के साथ देउलधार पहुँचने के लिए अल्मोड़ा से सबेरे बस में 'ताकुला-बागेश्वर मार्ग' पर ६० कि.मी. की यात्रा करने के बाद काफलीगैर में उतरना पड़ा, जहाँ अल्मोड़ा मैग्नेसाइट सीमेन्ट कारखाना स्थित है । वहाँ पूछताछ करने के बाद हम बिलारी होते हुए ३ कि. मी. की दूरी तय करने के बाद २ कि. मी. की खड़ी चढ़ाई पार करके पाल्डीछीना पहुँचे और वहाँ से देउलधार काफी निकट था । इस प्रकार लगभग ७ कि.मी. पैदल चलकर हम दोपहर के १२ बजे अपने गन्तव्य पर जा पहुँचे । वहाँ के चौकीदार ने हमें विश्रामगृह खोलकर दिखाया । लगभग दो घण्टे तक हमने इस स्थान का अवलोकन किया । अधिकांश समय हमने स्वामीजी की स्मृतियों से जड़ित उस विश्रामगृह में ही बिताया ।

चौकीदार तथा कुछ अन्य स्थानीय लोगों से हमने कुछ और जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया। पता चला कि इस उद्यान के वर्तमान स्वत्वाधिकारी सम्भवतः इसके ऐतिहासिक महत्व से अपरिचित होने के कारण उसके रख-रखाव के प्रति उदासीन है। उनकी उपेक्षा के कारण ही यह स्थान आज उजाड़ तथा वीरान पड़ा हुआ है और निरन्तर बरबाद होता जा रहा है। यह भी ज्ञात हुआ कि स्वामीजी के प्रवास के काफी समय बाद अल्मोड़ा के व्यापारी श्री चिरंजीलाल शाह ने व्यक्तिगत कारणों से यह सम्पत्ति जामनगर (गुजरात) के राजा को डेढ़ लाख रुपयों में बेच दिया था। जामनगर के राजा से यह उनकी पुत्री श्रीमती हसरत कुमारी के अधिकार में आया, जो आज भी इसकी स्वामिनी हैं।

हमें यह भी पता चला कि वे केवल कुछ समय के लिये एक बार इस स्थान पर आयी थीं और तब से उनका आगमन दुबारा नहीं हुआ। वर्तमान में वे दिल्ली में निवास करती हैं और वहीं से इसका प्रबन्ध करती हैं। उस समय का शानदार फर्नीचर तथा अन्य सब कुछ यहाँ आज भी ज्यों-का-त्यों पड़ा है, जो इमारत के जीर्ण होने के कारण क्रमशः बरबाद होता जा रहा है। इस अवलोकन के दौरान हमने उन वस्तओं के बारे में भी जानने का प्रयास किया, जिन्हें स्वामीजी ने प्रयोग किया होगा। इसमें लोहे की एक खाट तथा एक नक्कासीदार कुर्सी-मेज ने हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया, परन्तु निश्चित रूप से कोई कुछ नहीं बता सका। अब लगभग एक शताब्दी बाद हम केवल अनुमान ही लगा सकते है कि अधिकांश वस्तुएँ उसी समय की होंगी, परन्तु निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। सम्भव है कि राज-परिवार के लोग इस विषय में कुछ बता सकें। उद्यान का निरीक्षण करते समय हमें चारों ओर फलों तथा फूलों के वृक्षों से घिरा एक सुन्दर तालाब भी दिखाई पड़ा, जिसके बीचो-बीच एक फव्वारा था। हमें बताया गया कि वह काफी पुराना है और सम्भवतः स्वामीजी के समय विद्यमान था। उस समय कुछ ग्वाले उसमें नहा रहे थे जिसे देखकर हमारी कल्पनाएँ स्वामीजी के उस प्रवास की स्मृतियों में डूब गयीं।

यहाँ पहुँचने के बाद हमें लगा कि अपनी प्राकृतिक सुषमा, मनोरम जलवायु तथा निर्जन परिवेश के कारण ही इसे युगाचार्य स्वामीजी के आतिथ्य का सुअवसर प्राप्त हुआ होगा। यह घटना देउलधार जैसे एक अपरिचित भूखण्ड के इतिहास का एक सबसे उज्ज्वल अध्याय है। तब से सौ साल बीत चुके हैं और अब जबकि स्वामीजी के भावों का प्रचार-प्रसार इतनी तेजी से समस्त भूमण्डल में हो रहा है, यह स्थान भला कब तक उपेक्षित रह सकेगा ? यह आशा की जा सकती है कि अवश्य ही निकट भविष्य में किसी वीर आत्मा में इस जगह के विषय में प्रेरणा का उन्मेष होगा और इसका एक महान स्मारक के रूप में जीर्णोद्धार होगा। ☆

स्वामी दयानन्द और उनके उपदेश

स्वामी सत्यरूपानन्द

पश्चिमी सभ्यता तथा अंगरेजी भाषा से प्रभावित एवं सम्मोहित लोगों की यह एक धारणा हो गयी है कि भारत राष्ट्र का नव-जागरण अंगरेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण ही सम्भव हो सका। इसके पक्ष में वे लोग राजाराम मोहन राय से लेकर स्वाधीनता प्राप्ति के कालखण्ड तक के प्रमुख नेताओं का उल्लेख करते हैं। उनकी इस धारणा में तथ्य अवश्य है, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। यह एक संयोग की बात है कि नव-जागरण के पुरोधाओं में से अधिकांश व्यक्ति अंगरेजी भाषा और पाश्चात्य सभ्यता से सुपरिचित थे। किन्तु यह भी सत्य है कि उनकी प्रेरणा का स्रोत कहीं और था और वह था भारत की प्राचीन संस्कृति तथा आध्यात्मिकता में।

स्वामी दयानन्द जी के महान जीवन तथा कार्यों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि आधुनिक भारत के नव-जागरण का मूल स्रोत उसकी अपनी प्राचीन संस्कृति तथा आध्यात्मिकता में था। आज यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारतीय नव-जागरण एवं पुनरुत्थान की प्रेरणा उन्हें भारत की प्राचीन संस्कृति एवं आध्यात्मिक धरोहर से ही मिली थी। स्वामी दयानन्द जी इस सत्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। उन्होंने न तो अंगरेजी भाषा पढ़ी थी और न ही पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित थे। किन्तु फिर भी वे नगजागृत भारत के युगद्रष्टा सृजनशील पुरोधाओं में अन्यतम थे।

गुजरात के एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था। वे विशुद्ध भारतीय वातावरण में पले, बढ़े। उन्हें प्राचीन ढंग से संस्कृत तथा शास्त्रों की शिक्षा मिली थी। वे अत्यन्त मेधावी, अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न तथा विलक्षण पुरुष थे। उन्होंने अपनी सूक्ष्म बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि से यह देख लिया कि भारत की दुर्दशा तथा दासता का कारण भारतीयों का अज्ञान में डूबे रहकर अन्धविश्वासों तथा अज्ञान की बेड़ियों में जकड़े रहना है। यह ज्ञान उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव से हुआ था। वे यौवन के प्रारम्भ में ही ज्ञान की खोज में निकल पड़े थे। ३६-३८ वर्ष की अवस्था में मथुरा में अपने गुरु प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द जी के पास पहुँचने के पूर्व उन्होंने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया था, विद्वानों से विभिन्न भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया था।

इस अध्ययन से उन्हें विदित हुआ कि भारत के सभी शास्त्र तथा दर्शन वेदों को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं। अतः दयानन्दजी ने यह निश्चय किया कि वेदों में निहित धार्मिक तत्त्वों तथा जीवन-मूल्यों के आधार पर ही इस रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज को पुनर्जागृत कर देश को स्वाधीन किया जा सकता है। इसके लिए समाज की रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों को दूर करना सबसे पहली आवश्यकता थी।

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने १८७५ ई. में मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' नाम का एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि सत्य के उपदेश के बिना अन्य किसी उपाय से मनुष्य जाति की उन्नति नहीं हो सकती। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि इस ग्रन्थ का उद्देश्य किसी के मन को दुखी करना या किसी को हानि पहुँचाना नहीं है। इस ग्रन्थ में सभी मतों के सत्य और अविरोधी बातों को रखा गया है तथा जो मिथ्या बातें हैं, उनका खण्डन किया गया है।

दयानन्दजी ने वेदों के मंत्र भाग को ही निर्भ्रान्त प्रमाण माना है। वेदों के इस भाग के अध्ययन के आधार पर ही उन्होंने घोषणा की – (१) ईश्वर (२) जीव तथा (३) प्रकृति – ये ही तीन अनादि पदार्थ हैं। सत् चित् आनन्द आदि गुणों से युक्त परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र ईश्वर है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान आदि गुणों से युक्त अल्पज्ञ ही जीव है तथा इस जगत के कारण को प्रकृति कहते हैं।

दयानन्दजी ने छूत, अछूत, ऊँच, नीच, छोटी जाति, बड़ी जाति आदि कुरीतियों का खण्डन कर यह प्रतिपादित किया कि हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था गुण तथा कर्मों पर आधारित है, न कि जन्म पर। व्यक्ति अपने गुणों से ही छोटा या बड़ा होता है।

तत्कालीन हिन्दू समाज को जागृत तथा सक्रिय करने में उनकी एक और बड़ी देन यह है कि उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रारब्ध की तुलना में पुरुषार्थ बड़ा है, अतः व्यक्ति का भाग्य के भरोसे न बैठकर, वीरतापूर्वक कर्म करते हुए जीवन तथा समाज को उन्नत करने का दृढ़ प्रयत्न करना चाहिए।

शिक्षा की अभिनव व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि हो तथा अविद्या आदि दोष दूर हों, वह सच्ची शिक्षा है। दयानन्दजी ने समाज से दूर रहकर व्यक्तिगत मुक्ति की साधना के

पथ को स्वीकार नहीं किया। उनके उपदेश कर्मठ तथा सक्रिय रहकर समाज की सेवा तथा उन्नति के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति के पथ को ही श्रेष्ठ बताते हैं। वे हिन्दू समाज को एक स्वस्थ तथा सक्रिय दृष्टिकोण प्रदान करना चाहते थे। उनके मन में एक ऐसे समाज की कल्पना थी, जो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ, मानसिक दृष्टि से दक्ष, बौद्धिक दृष्टि से विवेकशील तथा नैतिक भावनाओं और उत्तरदायित्व से पूर्ण हो।

उन्होंने यह स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि इस प्रकार की समाज-रचना करने के लिए समाज को कुण्ठाओं, रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से मुक्त करना होगा। समाज के इन दोषों को दूर करने का एकमात्र उपाय है उचित शिक्षा। इसके लिए दयानन्दजी ने प्राचीन गुरुकुल पद्धति की शिक्षा पर जोर दिया, किन्तु उसके साथ यह भी व्यवस्था की कि इन गुरुकुलों में संस्कृत, भारतीय शास्त्र आदि के साथ साथ आधुनिक विज्ञान, तकनीक आदि की भी शिक्षा दी जाय।

नारियों की मर्यादा, उनके प्रति सम्मान तथा उनकी शिक्षा पर भी उन्होंने विशेष बल दिया। उनकी मान्यता थी कि लड़कियों को भी लड़कों के समान ही शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने नारी को भी पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया। हम सभी जानते हैं कि आर्यसमाज ने कई कन्या-गुरुकुलों की भी स्थापना की है।

स्वामी दयानन्दजी ने यह अनुभव किया कि पराधीन रहते हुए कोई भी जाति या समाज अपनी उन्नति नहीं कर सकता। विदेशी शासन कितना भी सुव्यवस्थित क्यों न हो, वह पराधीन जाति के सर्वांगीण विकास तथा कल्याण का साधन नहीं हो सकता। उनके इन विचारों से प्रभावित होकर ही परवर्ती काल में आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने भारत के स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय भाग लिया था।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आधुनिक भारत के नव-जागरण तथा उत्थान में स्वामी दयानन्दजी तथा उनकी शिक्षाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

एक निवेदन

भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के चरणरेणु से तीर्थीकृत तथा उनकी स्मृतियों से जुड़े समग्र हिन्दू जाति के आकर्षण-केन्द्र ज्योतिर्लिंग बाबा वैद्यनाथ की इस पुनीत नगरी देवघर में रामकृष्ण संघ द्वारा परिचालित प्रथम शिक्षण संस्थान रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ की स्थापना १९२२ ई. में हुई। भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्यतम पार्षद श्रीमत् स्वामी तुरीयानन्द महाराज की प्रेरणा तथा स्वामी विवेकानन्द के शिक्षादर्शों पर आधारित ७५ वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया यह शिक्षण-संस्थान आज पूरे भारतवर्ष में विख्यात है। रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष परम पूजनीय स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज ने भविष्य-वाणी की थी, "इस विद्यापीठ के माध्यम से भविष्य में अत्यन्त महान कार्य सम्पन्न होगा, इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।"

विद्यापीठ के बहुमुखी कर्म-प्रवाह में आर्थिक अवस्था से विपन्न ४०० छात्रों के लिए आज 'विवेकानन्द बाल-केन्द्र' मुख्य इकाई के रूप में कार्यरत है, जिसमें निःशुल्क शैक्षिक तथा क्रीड़ा-सम्बन्धी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इस अनुन्नत वर्ग को ही नवीन भारत का आधार बनाते हुए स्वामीजी ने कहा था —

"एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दुकान से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले जंगलों से, पहाड़ों-पर्वतों को भेदते हुए।" इस वाणी को ध्यान में रखते हुए सर्वाधिक पिछड़े, सबसे अधिक दबे हुए वर्ग को अपने विनम्र भाव से शिक्षित करने के प्रयास में **'विवेकानन्द बाल-केन्द्र'** अनवरत संलग्न है।

सम्प्रति इन छात्रों की यथोक्त शिक्षा के लिए एक स्थायी भवन की नितान्त आवश्यकता है, जिसकी अनुमानित लागत १० लाख रुपये है। अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

निवेदक,

स्वामी सुवीरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर (बिहार)

नोट : १. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के नाम से ही चेक या ड्राफ्ट भेजे जायँ।

२. रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान धारा ८० (G) के अनुसार आयकर से मुक्त हैं।

कुछ देखी कुछ सुनी

नन्दलाल टांटिया

सुन्दर वन में रामकृष्ण मिशन का कार्य

सुन्दर वन के हासनाबाद तथा सन्देशखाली द्वीपों में १९५०-५२ ई. में पड़े अकाल के दौरान मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी ने वहाँ बड़े पैमाने पर राहत कार्य किया था। तभी से इस क्षेत्र का नाम सुन रखा था, परन्तु वहाँ जाने का अवसर अभी हाल ही में प्राप्त हुआ। पिछले चार-पाँच वर्षों से रामकृष्ण के सेवा विभाग द्वारा सुन्दरवन के द्वीपों में बड़े पैमाने पर कार्य हो रहा है। अभी कुछ महीनों पहले एक नौका में दो डॉक्टर, चार कम्पाउण्डर, दवा, चश्मे तथा एक्स-रे मशीन के साथ एक चल-चिकित्सालय आरम्भ हुआ है। नौका में एलोपैथी, होम्योपैथी, एक्युप्रेशर तथा मैग्नेटो-थेरोपी की भी व्यवस्था है। मिशन के एक संन्यासी के निर्देशन में इसी प्रकार के और भी सेवा-कार्य परिचालित हो रहे हैं।

स्वामीजी के आदेश पर मैं दो दिनों के लिए सुन्दरवन गया था। हम लोग नयजाट, कलकत्ता से १०० की. मी. दूर लौंच में रवाना हुए। यह बोट प्रतिदिन दो द्वीपों पर जाता है। इस प्रकार छह दिनों में १२ द्वीपों पर सेवा की जाती है। द्वीप के निवासियों को पहले से ही सूचना रहती है कि किस किस दिन सुबह या शाम को वहाँ चिकित्सा-दल पहुँचेगा। अतः स्वाभाविक रूप से ही जेटी पर रोगियों की लाइन लग जाती है। प्रतिदिन लगभग १२५ से १५० तक मरीजों की सेवा होती है।

उस दिन हम लोगों का बोट लगभग तीन घण्टे बाद शमशेरनगर द्वीप पर पहुँचा। जेटी पर बालिकाओं ने शंखध्वनि के साथ हमारा स्वागत किया और जुलूस के साथ हमें वहाँ के स्कूल में ले गये। शमशेरनगर तथा उसके आसपास के क्षेत्र की आबादी करीब १६ हजार है और उस विद्यालय में छात्रों की संख्या भी एक हजार के ऊपर है, जिनमें छात्राओं का अनुपात ही अधिक है। इन सभी द्वीपों में शिक्षा का अच्छा प्रसार हो रहा है। घर घर में ठाकुर, माँ तथा स्वामीजी के चित्र लगे हैं। मिशन गावों में सस्ते लागत के शौचालय, सौर्य ऊर्जा का प्रकाश, स्वच्छ जल, गोबर गैस से बिजली तथा रसोई, ताँत की बुनाई तथा मधुमक्खी पालन सिखाना आदि कार्य बड़े पैमाने पर करता है। लोगों के चेहरे पर प्रफुल्लता है।

मुझे माननीय महावीर त्यागी का स्मरण हो आया। सन् १९६५-६६ में मैं उन्हें लेने एयरपोर्ट गया था। एयरपोर्ट से लौटते समय वे दोनों तरफ खड़े बच्चों को उत्सुकता के साथ देख रहे थे। मैं पूछ बैठा – आप इतनी उत्सुकता के साथ क्या देख रहे हैं। उनका उत्तर बड़ा ही अर्थपूर्ण था। उन्होंने बताया कि एयरपोर्ट से शहर पहुँचते पहुँचते ही वे वहाँ के आर्थिक, शैक्षणिक तथा लोगों के रहन-सहन के विषय में जानकारी पा लेते हैं। घरों का रंग-रोगन, बरामदों में सूखते वस्त्र, लोगों की चाल-ढाल तथा रास्तों की सफाई आदि देखकर ही वहाँ के लोगों की अवस्था का बोध हो जाता है। त्यागीजी के इसी फार्मूले के आधार पर मुझे सुन्दरवन के द्वीपों की हालत काफी सन्तोषजनक लगी। ताँत की साड़ी तथा गमछे बनानेवाली महिलाएँ प्रतिदिन २५ रुपये तक का उपार्जन कर लेती हैं और उनका उत्पादन भी वहीं बिक जाता है। प्रायः सभी घरों में पक्के शौचालय बन जाने से रास्ते में कहीं भी गन्दगी नहीं दिखी।

शमशेर नगर से रवाना होकर हम वहाँ के मशहूर भीमा जंगल में गये। वहाँ सदैव ही बाघों का निवास रहता है और कभी कभी तो वे नदी पार करके पास की बस्ती में भी आ जाते हैं। रात को हम लोगों ने बोट में ही निवास किया। भोजन भी बोट में ही बना। अगले दिन सुबह ५ बजे सूर्योदय की अपूर्व छटा देखने को मिली। स्वतः ही 'ॐ सूर्याय नमः' आदि का स्फुरण होने लगा। अब हम लोग दुलदुली टापू पर पहुँचे। वहाँ भी उसी तरह का स्नेहपूर्ण स्वागत हुआ। बोट में चिकित्सकों ने वहाँ एकत्रित रोगियों का इलाज आरम्भ किया और हम स्थानीय लोगों के साथ द्वीप को देखने निकल पड़े। दुलदुली में हम लोग कुल तीन घण्टे रुके और वहीं एक स्थानीय भक्त के यहाँ जलपान किया। हम जिन जिन गाँवों में भी गये, सर्वत्र ही हमें वहाँ बने ताँत के गमछे तथा शहद भेंट किये गये। कहीं ग्रामवासियों के स्नेहपूर्ण भावनाओं को ठेस न पहुँचे, इस कारण उन उपहारों को सहर्ष स्वीकार किया गया। सबसे मजे की बात तो यह है कि किसी भी द्वीप के निवासियों ने हमारे सामने कोई आर्थिक समस्या नहीं रखी। हम लोग दो घण्टे बाद बोट पर पहुँचे, परन्तु रोगियों की जाँच तथा चिकित्सा अभी पूरी नहीं हो पायी था, अतः कुछ देर और ठहरना पड़ा। अपराह्न में बोट में ही भोजन करने के बाद हम छोटो-शेहरा द्वीप गये। वहाँ हम लोगों को हाई स्कूल में ले जाया गया। स्वामीजी ने छात्रों को सम्बोधित किया। वहाँ के प्रायः सभी छात्र श्रीरामकृष्ण तथा उनके सन्देश से परिचित हैं। दसवीं तथा ग्यारहवीं के लगभग साठ छात्र तथा छात्राएँ थीं। छात्रों से कहा गया कि अगली बार उन्हें स्वामी विवेकानन्द पर बोलना होगा और उत्तम वक्ताओं को पुरस्कृत किया जायगा।

गत वर्ष मिशन के महासचिव महाराज के साथ गौहाटी गया था। वहाँ स्कूल की ४० छात्राओं में से प्रत्येक को स्वामीजी पर बोलने के लिए तीन मिनट का समय दिया गया था। सामने स्वामी विवेकानन्द का चित्र लगा था और विषय था – "स्वामीजी के प्रति तुम कैसे आकृष्ट हुई ?" विद्यार्थियों ने कुछ बड़ी मजेदार बातें कहीं। १४-१५ साल की एक छात्रा ने कहा – महाराज, आपने प्रश्न किया है कि तुम स्वामीजी के प्रति कैसे आकृष्ट हुई ? मैं विनीत भाव से पूछती हूँ, "स्वामीजी का चित्र आपके सामने है। आप बताये कि स्वामीजी का कौन-सा अंग आपको आकृष्ट नहीं करता ? आप अंग की तो बात ही छोड़िए, इनके हाथ में जो दण्ड है, उसका दर्शन कीजिए। केवल वही आपको आकृष्ट करने के लिए यथेष्ट है।" बच्ची की बात सुनकर हम सभी गदगद हो गये। सुन्दर वन की ये छात्राएँ भले हीं उतनी तेज-तर्रार न हों, परन्तु आशा थी कि उनके उद्‌गार भी खूब जमेंगे। मैंने वादा किया कि बरसात के बाद उनका डिबेट सुनने अवश्य आऊँगा और इस बीच उन सभी को स्वामीजी का साहित्य भिजवाने की व्यवस्था की।

छोटो-शेहरा के बाद सायंकाल हम लोग सुलकुनी द्वीप पहुँचे। यहाँ रामकृष्ण मिशन से जुड़ा एक स्व-संचालित आश्रम है। स्कूल के एक अध्यापक श्री हालदार ही आश्रम के सचिव हैं। हम लोग आश्रम में गये। श्री हालदार ने बताया कि प्रतिदिन सांध्य-आरती तथा प्रार्थना के समय १५-२० भक्त आते हैं। जिन वृद्धा ने आश्रम की स्थापना हेतु भूदान किया था, उनसे भी मिलना हुआ। गत वर्ष रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज ने सुलखुनी के आश्रम में दो दिन निवास करके वहाँ के लगभग दो सौ भक्तों को दीक्षित किया था।

लौटते समय हम लोग नयजाट से बोट में रवाना होकर हासनाबाद पहुँचे। रात हो गयी थी। कुल मिलाकर यह यात्रा बड़ी ही स्मरणीय रहेगी। गावों में लोगों की जैसी भक्ति-भावना देखने को मिली, उससे स्वामीजी की उस भविष्यवाणी पर विश्वास हुआ कि आगामी डेढ़ हजार वर्षों तक भगवान श्रीरामकृष्ण की भावधारा प्रवाहित होती रहेगी।

अन्दमान क्या काला पानी है ?

बचपन से ही अन्दमान के बारे में तरह तरह की भयावह बातें सुनने को मिलती थीं। काला पानी का नाम सुनते ही लोग आतंकित हो जाया करते थे। मिशन के पोर्ट ब्लेयर आश्रम ने बहुत दिनों से रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष श्रीमत स्वामी

रंगनाथानन्द जी महाराज को वहाँ पधारने का निमंत्रण दे रखा था। अन्ततः महाराज का १८ जून को मद्रास से पोर्ट ब्लेयर जाने का कार्यक्रम बना। महाराज की ही कृपा से मैं भी उनके साथ रवाना हुआ। दो घण्टे की उड़ान के पश्चात हम लोग पोर्ट ब्लेयर पहुँचे। वहाँ हवाई पट्टी पर ही स्थानीय मिशन के सचिव, अनेक भक्तगण तथा सरकारी अधिकारी एकत्र थे।

लगभग एक बजे हम लोग पोर्ट ब्लेयर आश्रम पहुँचे। वहाँ ५५ अनाथ बच्चों के आवास तथा शिक्षा की व्यवस्था है। बच्चे ७ से १५ वर्ष की आयुवर्ग के हैं। बिहार में जो चसनाला खदान ध्वस्त हुई थी, ४-५ बच्चे तो वहीं के हैं। ऐसे दर्जनों बच्चे हैं, जिनका वहाँ के महाराज को छोड़कर अपना कोई नहीं, और महाराज का प्यार भी अद्भुत है। हरेक बच्चे को वे पास बुलाते हैं और उन्हीं के साथ भोजन करते हैं। जब कोई भक्त प्रसाद आदि भेजना चाहता है, तो उन्हें पहले ही सूचित कर दिया जाता है कि वे बच्चों सहित सभी के लिए प्रसाद भेजें।

श्रीमत स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज के प्रति वहाँ के गवर्नर श्री ईश्वर प्रसाद गुप्ता की विशेष श्रद्धा है और उन्होने सविनय निवेदन किया कि महाराज उन्हीं का आतिथ्य स्वीकार करें। राज्यपाल ने कहा – स्वामीजी, शायद आपको स्मरण हो। १९५८ ई. में आपने ऐडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कॉलेज में हम सभी आइ. ए. एस. पास करनेवाले छात्रों का एक शिविर लिया था। इसी प्रकार की घटना मुम्बई में भी हुई थी। गत जनवरी माह में महाराज दीक्षा-कार्यक्रम हेतु मुम्बई पधारे थे। वहाँ भगवान महावीर विकलांग समिति (जो जयपुर फूट के लिए प्रसिद्ध है) के मानद सचिव मेहताजी को इस बात की सूचना मिलने पर हम लोग मुम्बई के आश्रम में उनके दर्शन करने गये। मेहताजी एक उच्च अधिकारी हैं और मुम्बई के लोग उनसे खूब परिचित हैं। उन्होंने भी महाराज को स्मरण दिलाया था कि १९६३ में आई. ए. एस . पास करनेवाले छात्रों के बैच में महाराज की कक्षाओं में उपस्थित रहनेवालों में से वे भी एक थे। सरकार के विशेष अनुरोध पर महाराज ३०-३५ वर्षों तक लगातार आई. ए. एस. में उत्तीर्ण होनेवाले समस्त छात्रों को तीन दिनों का प्रशिक्षण देने जाया करते थे। परन्तु अब आयु में वृद्धि के कारण वहाँ जाना सम्भव नहीं हो पाता।

मुम्बई में प्रतिदिन महाराज के दीक्षा का कार्यक्रम रहता और सायंकाल मिशन के सभागार में उनका प्रवचन भी होता। एक दिन स्थानीय आश्रम के सचिव ने महाराज से अपने संस्मरण सुनाने का अनुरोध किया। महाराज ने बताया कि १५ वर्ष की आयु

में उन्हें स्वामी विवेकानन्द का साहित्य पढ़ने के मिला और वे उससे काफी प्रभावित हुए। उनके परिवार की आर्थिक अवस्था अत्यन्त साधारण थी। दीक्षा के लिए त्रिचूर से मैसूर तक जाने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे। परन्तु संयोग से उन्हीं दिनों रामकृष्ण मठ के द्वितीय परमाध्यक्ष स्वमी शिवानन्द जी महाराज का ऊटी में आगमन हुआ। निकट होने के कारण रंगनाथानन्दजी वहाँ दीक्षा के लिए जा पहुँचे। दीक्षा के बाद महाराज ने गुरुदक्षिणा माँगी, परन्तु उनके पास देने को कुछ भी नहीं था। महापुरुष महाराज ने पास पड़े हुए दो आम दिखाते हुए कहा कि इन्हें ही दे दो।

रंगनाथानन्द जी महाराज ने बताया कि यह उनके जीवन की अद्‌भुत घड़ी थी। ऐसी ही एक अन्य घटना भी मुझे उनसे सुनने को मिली थी। उन्होने स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज से निवेदन किया था — महाराज मुझे आशीर्वाद दें। अखण्डानन्द जी ने कहा — तुमको बहुत बड़ा काम करना है। स्वामीजी के काम को आगे बढ़ाओ। और आज धर्मशास्त्रों पर प्रवचन करनेवाले स्वामी रंगनाथानन्द जी के समान उत्कृष्ट वक्ता गिनती के ही है। ८९ वर्ष की अवस्था में भी वे गम्भीर विषयों पर एक घण्टे तक धाराप्रवाह बोल लेते हैं। पोर्ट ब्लेयर में प्रतिदिन शाम को महाराज श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द, श्रीमद् भागवत और धर्म तथा विज्ञान का समन्वय विषयों पर बोले। वहाँ जनसंख्या विशेष नहीं है, तथापि ३-४ सौ लोग सुनने आया करते थे।

पोर्ट ब्लेयर का इतिहास बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। हम लोग 'सेल्युलर जेल' भी देखने गये। कितना भयानक दृश्य था! देखते ही कँपकँपी छूटती है। साढ़े तेरह फिट लम्बाई तथा सात फिट चौड़ाई वाली कुल ६८३ कोठरियाँ हैं, जिनमें खिड़कियाँ तक नहीं हैं। यहाँ स्वाधीनता सेनानियों को बन्दी बनाकर किस प्रकार तरह तरह की यातनाएँ दी जाती थी! कल्पना मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हीं में से तीसरी मंजिल पर स्थित एक कोठरी में वीर सावरकर ने १९११ से १९२१ के दौरान ११ वर्ष तक कैद रखा गया था। विदेश से शिक्षा प्राप्त करके लौटा हुआ यह नौजवान राष्ट्रीय स्वाधीनता की आग में कूद पड़ा था। सेल्युलर जेल ऐसे ही अगणित शहीदों की स्मृति से जुड़ा हुआ है। देशभक्तों ने किस प्रकार अपना जीवन देकर वर्षों तक कठोर यातनाएँ भोगीं! कुछ कैदियों को तो अपनी कोठरी में ही शौच करना पड़ता था, क्योंकि उन्हें कोठरी से बाहर निकलने तक की आजादी न थी। सोने के लिए उन्हें दी जाती थी टाट की एक चटाई और ओढ़ने के लिए हैसियन का एक बोरा। उन्हें चटाई के ही वस्त्र भी पहनने पड़ते थे।

नीचे के तहखाने में फांसी के तीन खम्भे थे और लाशें पास ही समद्र में बहा दी

जाती थीं। सेल्युलर जेल का वह दृश्य बड़ा ही हृदयस्पर्शी रहा। हजारों शहीदों ने देश की आजादी के लिए कितने कष्ट सहे, वर्षों इन छोटी से कोठरी में बिताये ! इन्हीं की त्याग, तपस्या तथा बलिदान के फलस्वरूप हमें आजादी मिली और हम भौतिकता में इतने लिप्त हो गये कि अपने इन महान पूर्वजों के त्याग का स्मरण तक नहीं करते। नहीं मालूम ठंडी गाड़ियों, आलीशान महलों तथा सुरक्षा सैनिकों के बीच घिरे रहनेवाले हमारे राजनेताओं में से कितनों ने इस सेल्युलर जेल रूपी तीर्थ का दर्शन किया है। देशसेवा का व्रत लेनेवाले हमारे राजनेताओं के लिए वहाँ की ६८३ कोठरियाँ चारों धाम की यात्रा के समान पवित्र हैं। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि इन तंग कोठरियों में रहनेवाले जिन शहीदों के आत्मत्याग तथा बलिदान के बल पर ये लोग राज्य कर रहे हैं, उन्हीं के समान वे भी वहाँ जाकर कुछ दिन बिता आयें। मेरा यह कोई व्यक्तिगत आक्षेप नहीं है। परन्तु उपरोक्त अनुभव निश्चित रूप से उन्हें इस महान देश के लिए कुछ करने की प्रेरणा देगा।

सारगाछी आश्रम

अब से सौ वर्ष पूर्व, १८९७ ई. में माँ अन्नपूर्णा की पूजा के दिन स्वामी विवेकानन्द के आह्वान पर उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी के नेतृत्व में यहाँ सेवाकार्य की शुरूआत हुई। संकल्प तो पहले से ही था, किन्तु सारगाछी में औपचारिक रूप से 'शिवज्ञान से जीवसेवा' का कार्य अन्नपूर्णा-पूजा के दिन ही आरम्भ हुआ। इस वर्ष इसी घटना की शताब्दी के अवसर पर सारगाछी आश्रम में १५ अप्रैल को माँ अन्नपूर्णा की पूजा के साथ चार दिनों के समारोह का आयोजन हुआ था। पूजा के पण्डाल में स्थानीय चित्रकार ने माँ अन्नपूर्णा तथा नन्दी पर सवार भगवान शिव का चित्र बड़े ही भव्य रूप से अंकित किया था। अन्नपूर्णा के हाथ में चावल से भरा हुआ एक कटोरा था और भगवान शिव एक छोटे से पात्र में भिक्षा माँग रहे थे।

दुर्गापूजा के अवसर पर कलकत्ते में एक-से-एक भव्य प्रतिमा का दर्शन होता है, परन्तु पता नहीं क्यों एक अनजान शिल्पकार द्वारा बनायी गयी यह मूर्ति मुझे कहीं अधिक प्रेरणादायी लगी। रामकृष्ण मिशन के लगभग १५० संन्यासी तथा ब्रह्मचारी इस चार दिवसीय कार्यक्रम में उपस्थित थे। भक्तों की संख्या भी हजारों में थी। उनमें लाठी टेकते हुए आयी एक वृद्धा भी थी, जिसने ६०-७० वर्ष पूर्व स्वामी अखण्डानन्द जी से मन्त्रदीक्षा प्राप्त की थी। इसी सारगाछी आश्रम की पुनीत भूमि पर महाराज ने अनेक भक्तों को दीक्षित किया था। १६ अप्रैल की शाम को माँ अन्नपूर्णा की पूजा के उपरान्त स्वामी अनामयानन्द जी द्वारा भागवत-पाठ हुआ। प्रसाद-वितरण के बाद

काफ़ी देर तक 'जात्रा' आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम होते रहे।

१८९७ ई. में इस मुर्शिदाबाद अंचल में बड़ा ही भयानक अकाल पड़ा था। स्वामी अखण्डानन्द जी ने दो ब्रह्मचारियों के साथ सारगाछी के पास ही स्थित महुला ग्राम को केन्द्र बनाकर राहत कार्य आरम्भ किया। यह शुरुआत स्वामी विवेकानन्द द्वारा उनकी प्रणामी से एकत्र मात्र १५० रुपयों की राशि से हुई। अखण्डानन्द जी ने सोचा कि इतना बड़ा अकाल इतने अल्प साधन से भला कैसे पूरा हो सकेगा! स्वामीजी ने अपने गुरुभाई को अपनी ओजस्वी वाणी में कहा – "रुपयों की चिन्ता मत करो। रुपये आसमान से बरसेंगे। तुम नारायण की सेवा में लगे हो, यह तुम्हाराअहोभाग्य है।" और स्वामी अखण्डानन्द जी कार्य में लग गये। कलकत्ते के मठ से आदेश आया कि अखबारों में प्रकाशित कराने के लिए राहत-कार्य का विवरण भेजो। जैसे ही अखण्डानन्द लिखने बैठे, ठाकुर उनके समक्ष प्रकट हो कर बोले – तुम्हें लोगों पर ही भरोसा है, मेरे ऊपर से भरोसा उठ गया क्या? स्वामी अखण्डानन्दजी अपने संस्मरणों में लिखते हैं कि यह वाणी उनके मर्मस्थल में बिजली की भाँति कौंध गयी और टप टप गिरते आँसुओं से पूरा कागज भीग गया। इसके बाद वे आँखें बन्द करके ठाकुर से प्रार्थना करने लगे – "हे ठाकुर, मेरी लाज रखो। सैंकड़ों भूखे बालक मेरे सामने खड़े हैं। मैं क्या करूँ?"

बड़े आश्चर्य की बात है कि इसके दूसरे दिन ही उन्हें मद्रास मठ के संस्थापक-अध्यक्ष स्वामी रामकृष्णानन्द जी द्वारा भेजा हुआ एक हजार रुपये का ड्राफ्ट और साथ में एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि यह राशि मद्रास के एक भक्त ने राहत-कार्य हेतु दी है। अगले सप्ताह वे पाँच सौ रुपये और भी देंगे। कैसा चमत्कार है यह! यदि पाठक विस्तृत जानकारी चाहें, तो वे उनकी 'Service of God in Man' पुस्तक पढ़ें। प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द द्वारा अपनी प्रणामी से राहत-कार्य हेतु दिये हुए वे १५० रुपये क्रमशः अनन्तगुना हो गये।

ऐसा ही अद्भुत चमत्कार मैंने वाराणसी में भी मिशन के सेवाश्रम अस्पताल में देखने को मिला। माँ श्री सारदादेवी तीर्थदर्शन के हेतु बनारस गयी थीं। उन दिनों वहाँ का अस्पताल आर्थिक संकट में था। किसी भक्त ने माँ को प्रणामी में एक दस रुपये का नोट दिया था और माँ ने वह नोट रोगी-नारायण की सेवा हेतु अस्पताल के संचालक स्वामीजी को भेंट कर दिया। महाराज ने कहा कि माताजी की दी हुई यह मेरी टकसाल है। इसका मैं उपयोग नहीं करूँगा। बस, जब जितनी आवश्यकता होगी, इसके प्रिंट

निकाल लूँगा। अभी भी वह नोट बनारस के सेवाश्रम में सँजोकर रखा हुआ है। स्वामी अखण्डानन्द जी ने भी उन १५० रुपयों में से अपने लिए कुछ भी उपयोग नहीं किया।

अखण्डानन्द जी तथा उनके सहयोगी भिक्षा के लिए बारी बारी से महुला गाँव के गृही लोगों के घर जाया करते थे। सबेरे कुछ गृही भक्त उनके लिए गुड़ का शरबत तथा मुरमुरे भेज देते थे। एक दिन उसी समय वहाँ ५-७ भूखे बच्चे खड़े थे। स्वामी अखण्डानन्द जी लिखते है कि उनके पीड़ित भोले चेहरे को देखकर उन्होंने गुड़ का शरबत तथा मुरमुरे वितरित कर दिये। कुछ दिनों बाद कलकत्ते की महाबोधि सोसायटी ने मुर्शिदाबाद के राहत-कार्य हेतु एकत्रित धनराशि स्वामी अखण्डानन्द जी के पास भिजवा दी। स्वामी विवेकानन्द जी ने उन्हें लिखा था – गंगाधर, **मन्त्रं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्** – कार्य का साधन या फिर शरीर का नाश। महाराज लिखते हैं कि उस मानसिक कष्ट के समय उन्हें स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा प्रदत्त यही वाणी प्रेरणा देती रही।

१५ मई को मात्र १८ अकालग्रस्तों को प्रतिदिन १२ औंस के हिसाब से चावल का वितरण प्रारम्भ हुआ। श्री ठाकुर की शक्ति का चमत्कार! स्वामी अखण्डानन्द जी लिखते हैं कि मुर्शिदाबाद के कलेक्टर मि. लेविंग्ज तथा अन्य सरकारी अधिकारी उनके कार्य से बहुत प्रभावित हुए और कहने लगे – महाराज, आप हमारा मार्गदर्शन करें। अकालग्रस्त लोगों को कार्य दिलाकर सहायता पहुँचाने के लिए स्वामी अखण्डानन्दजी ने उन्हें महुला गाँव में सड़क निर्माण कराने को कहा और कलेक्टर महोदय ने तत्काल इस बावत आदेश जारी कर दिया। चावल का बाजारभाव तीन रुपये मन था, मजिस्ट्रेट ने वहाँ के व्यापारियों पर दबाव डालकर स्वामी अखण्डानन्द जी को दो रुपये मन की दर पर चावल दिलवाया। सन् १९२५ में रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष होने तक वे निरन्तर सारगाछी में ही रहे और उसके बाद भी अधिकांश समय वहीं बिताया। महाराज ने अपने भक्तों से कहा – तुम लोग सारगाछी में जाकर बैठ जाओ। जप-ध्यान करने की आवश्यकता नहीं, सब अपने आप हो जायगा। महुला ग्राम के सान्याल परिवार के मकान में चार महीने रहकर स्वामी अखण्डानन्द जी ने राहत-कार्य किया था। वह मकान अब भी ज्यों-का-त्यों है। परिवार के वंशज श्री ठाकुर की नित्य-पूजा करते हैं। हम सभी ने उस पुनीत मन्दिर के दर्शन किये। ☆

वेदों में आशावाद

डॉ. शोभा निगम

भारतीय दर्शन के विषय में प्रायः कहा जाता है कि यह निराशावादी है और उसमें केवल मोक्षप्राप्ति या उस स्थिति को प्राप्त कर लेने में ही मानव-जीवन की सार्थकता मान ली गयी है, जिसमें यह संसार तुच्छ प्रतीत होता है, जिसमें इस संसार के आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारतीय चिन्तन में सांसारिक जीवन को हेय-दृष्टि से देखा गया है। परन्तु वस्तुतः यह सत्य नहीं है। भारतीय चिन्तक जिन वेदों से अनुप्राणित हैं, उनमें पग-पग पर जीवन के प्रति जो अदम्य सकारात्मक भाव दृष्टिगोचर होते हैं, वैसा वह निश्चय ही अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। सौ वर्ष तक जीने की कामना तो हमारे वैदिक ऋषि करते ही हैं, साथ ही यह कामना भी करते हैं कि उनके खेत पर्याप्त अन्न पैदा करें; वे भूख, पीड़ा तथा कष्टों से मुक्त रहें; उन्हें उत्तम भोज्य पदार्थ मिले, वृद्धावस्था उनके लिए सुखद हो, उनकी मन-बुद्धि ज्ञान, संकल्प, विकल्प आदि के सामर्थ्य से युक्त हो, उनके शत्रुओं का नाश हो तथा उन्हें ऐसा सुखकर जीवन बारम्बार प्राप्त हो। ऋग्वेद के दशम मंडल का ऐसा ही एक सूक्त (१०/५९) द्रष्टव्य है –

प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः स्थातारेव क्रतुनता रथस्य।
अध च्यवान उत्तवीत्यर्थं परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥१॥

– नवोत्पन्न बालक की आयु खूब बढ़े। रथ के ऊपर बैठने वाले रथी सारथी के समान कर्म और ज्ञान से युक्त गृहस्थ के स्त्री-पुरुष दोनों खूब दूर-दूर तक सुख से गमन किया करें और रथ से जाने वाला पुरुष प्राप्त करने योग्य उद्देश्य को उत्तम रीति से प्राप्त करे ताकि कष्ट-दशा नितांत दूर हो जावे।

सामन्नु राये निधिमन्न्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि।
ता नो विश्वानि जरिता ममत्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥२॥

– हम लोग ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए भूमि के सम भाग में धन सहित अन्न को उत्पन्न करें और हमारे उपदेष्टा विद्वान पुरुष हमारे उन समस्त अन्नों का बहुत प्रकार से आस्वाद लें। भूख, पीड़ा, कष्ट आदि अच्छी प्रकार से दूर हो।

अभीष्यर्य: पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान् ।
ता नो विश्वानि जरिता चिकेत परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥३॥

— हम लोग पौरुष कर्म से शत्रुओं को अच्छी प्रकार पराजित करें। सूर्य जैसे पृथ्वी को प्राप्त होता है और मेघ जिस प्रकार अपने प्रेरक वायओं को प्राप्त करते है उसी प्रकार हमारा विद्वान उपदेष्टा हमें प्राप्त हो, हमें ज्ञान से प्रकाशित करें, सन्मार्ग में चलावे और उन नाना प्रकार के पदार्थों को स्वयं जाने तथा हमें बतलावे। इस प्रकार कष्ट-दशा, दु:ख-दारिद्रय आदि खूब अच्छी प्रकार से दूर हो।

मा षु ण: सोम मृत्यवे परा दा: पश्चेम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥४॥

— हे उत्तम मार्ग में चलानेवाले विद्वान ! तू हमें मृत्यु के लिए कभी मत छोड़। हम ऊपर में जाते हुए सूर्य को सदा देखें और दिनों दिन हमारी वृद्धावस्था भी हितकारी हो। और कष्ट की दशा खूब अच्छी प्रकार से दूर रहे।

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयु: ।
रारन्धि न: सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥५॥

— प्राणधारी जीवों को सन्मार्ग में चलानेवाले ! तू ज्ञान जीवन धारण करने के लिए हममे मन, ज्ञान, संकल्प-विकल्प करने का सामर्थ्य धारण करा और हमारे जीवन की खूब वृद्धि करा। सूर्य के उत्तम दर्शन करने कराने वाले प्रकाश वाले प्रकाश में हमें खूब हर्ष आनन्द प्रदान कर। तू जल और प्रकाश के घृत से हमारे शरीर को बढ़ा।

असुनीते पुनरस्मासु चक्षु: पुन: प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया न: स्वस्ति ॥६॥

— हे प्राणी को प्रदान करनेवाले ! तू हममें पुन: चक्षु, ज्ञान और प्राण प्रदान कर। इस लोक में हमें उत्तम-उत्तम भोज्य-पदार्थ प्राप्त करा। हम ऊपर आकाश में आते सूर्य को चिरकाल तक देखें। हे, अनुकूल बुद्धि देनेवाले विद्वान् प्रभो ! तू हमें सुख प्रदान कर।
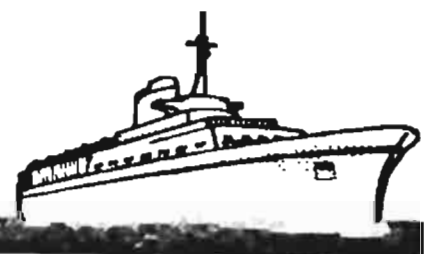
कैलीफोर्निया में स्वामी विवेकानन्द

फ्रैंक रोडहैमेल

स्वामी विवेकानन्द ने जब कैलीफोर्निया (अमेरिका) के श्रोताओं के समक्ष व्याख्यान दिये थे, तब से दस (अब सौ) वर्ष से भी अधिक काल व्यतीत हो चुका है; तथापि ऐसा लगता है मानो वह अभी कल की ही बात हो। अन्य स्थानों की ही भाँति यहाँ भी श्रोतागण प्रारम्भ से ही उनके अपने हो जाते और अन्त तक उन्हीं के साथ रहते। वे लोग बिना किसी प्रतिरोध के उनके विचारों के प्रवाह में बह जाया करते थे। श्रोताओं में ऐसे भी अनेक लोग रहते, जो अपने को रोकना भी नहीं चाहते थे, क्योंकि वे एक ज्योतिर्मय पुरुष के सान्निध्य में आकर अपने मन के गोपनीय स्थानों के आलोकित होने पर आनन्द तथा एक प्रकार की नवीनता का बोध करते थे। ऐसे भी कुछ लोग थे जो यदि सम्भव होता तो बाधा डालते, परन्तु उनकी प्रतिरोध-शक्ति आचार्यदेव की अकाट्य युक्तियों, सूक्ष्म बुद्धि तथा शिशुसुलभ सरलता के सामने लाचार हो जाती थी। सच पूछो तो कोई कोई अपनी आपत्तियाँ व्यक्त करने को खड़े भी हो जाते, परन्तु उन्हें तत्काल ही स्वीकृति के मृदु हास्य के साथ अथवा विभ्रान्तिजनित अशक्यता के कारण बैठ जाना पड़ता था।

स्वामीजी का व्यक्तित्व अपनी स्पष्ट प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा उनके मन पर अधिकार जमा लेता था। उनके ज्वलन्त नेत्र, मुखमुद्रा, अंगविन्यास का लालित्य, जनचित्त को अतीन्द्रिय शक्ति के प्रभाव के प्रति सचेतन करने में सक्षम उनकी झंकारमय श्रुतिमधुर अपूर्व श्लोकावृत्ति तथा उसके बाद सस्मित-आत्मविश्वास के साथ किये हुए उसके अनुवाद – यह सब मिलाकर हिन्दू संन्यासी के सुमनोहर वेश की पृष्ठभूमि में जो चित्र उभर आता, इन सबको भला कौन भूल सकता था ?

वक्ता के रूप में वे अनुपम थे; अन्य वक्ता नोट की सहायता लिया करते हैं, परन्तु वे कभी ऐसा नहीं करते थे। और यद्यपि अनुरोध किए जाने पर वे एक ही व्याख्यान कई बार देते, परन्तु वे पुनरावृत्ति मात्र नहीं होते थे। अपनी चरम अनुभूति के स्तर से बोलते हुए मानो वे अपना ही कुछ अंश दे डालते थे। उनसे निःसृत होनेवाली सचेतनता के द्वारा वेदान्त के गूढ़ तत्त्व मात्र ऊहापोह के राज्य से मुक्ति पाते से प्रतीत होते थे। उनकी उक्तियाँ सक्रिय तथा रचनात्मक थीं, जो चिन्तन को जगाकर उसे समन्वय की प्रक्रिया में लगा देती थीं। इस प्रकार वे न केवल एक वक्ता, अपितु उच्चतम कोटि के एक आचार्य भी थे।

प्रत्येक व्याख्यान के अन्त में वे प्रश्न पूछने को उत्साहित करते और जिज्ञासओं को समझाने के प्रयास में कुछ उठा नहीं रखते थे। एक बार कुछ श्रोताओं द्वारा बारम्बार प्रश्न किए जाने पर एक व्यक्ति के मन में आया कि ये लोग अपने प्रश्न लेकर स्वामीजी को व्यर्थ ही तंग किये जा रहे हैं और उन्होंने यह बात कह भी दी। परन्तु स्वामीजी सहज भाव से बोले, "जितने भी चाहो, प्रश्न कर लो – प्रश्न जितने अधिक हों, उतना ही अच्छा। मैं तो इसी के लिए यहाँ उपस्थित हूँ और जब तक आप समझ नहीं जाते, मैं छोड़नेवाला नहीं।" इस पर इतनी देर तक तालियाँ बजती रहीं कि उन्हें अपनी वार्ता जारी रखने के लिए सबके शान्त हो जाने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। कभी कभी वे अपने उत्तरों के द्वारा लोगों को चौंकाकर उनमें विश्वास जगा देते थे। 'पुनर्जन्मवाद' विषयक एक व्याख्यान के बाद जब किसी ने पूछा, "स्वामीजी, क्या आपको अपने पुनर्जन्म का स्मरण है ?" इस पर उन्होंने तत्काल गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, "हाँ, स्पष्ट रूप से – यहाँ तक कि बचपन से ही स्मरण है।"

प्रत्युत्तर देने को यदि आवश्यक हुआ तो वे तीक्ष्ण उत्तर देने के लिए भी सर्वदा प्रस्तुत रहते थे, परन्तु साथ ही विरोधों का भी वे अत्यन्त मधुर भाव से, और यहाँ तक कि आनन्द के साथ सामना करते थे। श्रोताओं को समझा देना ही उनका कार्य था और अत्यन्त गूढ़ विषयों को समझाने में उन्हें जैसी सफलता मिलती थी, वैसी शायद किसी अन्य वक्ता को न मिली होगी। उनकी उपलब्धि इसी में थी कि वे सूक्ष्म विषयों को भी लोकप्रिय तथा सामान्य जन की समझ के उपयुक्त बनाने में सक्षम थे। उनके वक्तव्य सबके लिए थे। उन्होंने कहा था, "भारत के लोग मुझसे कहते हैं कि मुझे आम जनता के बीच अद्वैत वेदान्त का प्रचार नहीं करना चाहिए; परन्तु मेरा कहना है कि मैं इसे एक बच्चे तक को समझा सकता हूँ। उच्चतम आध्यात्मिक तत्त्व सिखाना जितनी ही कम आयु से प्रारम्भ किया जाय, उतना ही अच्छा होगा।"

एक बार उन्होंने अपने एक व्याख्यान के अन्त में अपने अगले व्याख्यान की घोषणा करते हुए कहा, "आगामी रात को मैं 'मन – उसकी शक्तियाँ तथा सम्भावनाएँ' विषय पर व्याख्यान दूँगा। आप लोग सुनने को अवश्य आइयेगा; मैं आपसे कुछ कहना चाहूँगा, दो-चार बम फेंकना चाहूँगा।" यह कहकर उन्होंने मन्द हास्य के साथ श्रोताओं की ओर देखा और फिर हाथ हिलाते हुए बोले, "अवश्य आइयेगा, इससे आप लोगों का भला होगा।" अगली रात खड़े होने तक को जगह न थी। उन्होंने अपनी बात रखी, बम फेंके गये और अन्य किसी की

तुलना में वे ही सर्वाधिक भलीभाँति जानते थे कि प्रभावशाली ढंग से बम कैसे फेंके जायँ। इस व्याख्यान के दौरान ब्रह्मचर्य के द्वारा मन की शक्ति में वृद्धि करने के विषय में उन्होंने सुदीर्घ चर्चा की; पवित्रता विकसित करने के साधन के रूप में उन्होंने नारी जाति के प्रति मातृभाव रखने के सिद्धान्त की व्याख्या की। प्रसंग उठाने के बाद वे थोड़ा ठहरे और मानो श्रोताओं के अव्यक्त प्रश्नों के उत्तर देते हुए कहने लगे, "हाँ, यह एक सिद्धान्त मात्र है। आप लोगों को यह मनोरम सिद्धान्त बताने के लिए ही मैं यहाँ खड़ा हूँ, परन्तु जब मैं अपनी माता के बारे में सोचता हूँ तो जानता हूँ कि वे मेरे लिए अन्य समस्त नारियों से भिन्न हैं। दोनों में कुछ भिन्नता है; जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भिन्नता हमें दृष्टिगत होती है केवल इसलिए कि हम अपने को शरीर समझते हैं। यह सिद्धान्त ध्यान की सहायता से ही ठीक ठीक समझा जा सकता है। इन सत्यों के बारे में पहले सुनना होगा और तत्पश्चात् इन पर ध्यान करना होगा।"

उनके मतानुसार संन्यासी तथा गृहस्थ दोनों के लिए ही पवित्रता आवश्यक थी और इस बात पर वे विशेष बल देते थे। उन्होंने कहा, "कुछ दिन पूर्व एक हिन्दू युवक मुझसे मिलने आया था। वह पिछले दो वर्षों से इस देश में है और कुछ काल से बीमारी का कष्ट भुगत रहा है। बातचीत के दौरान उसने मुझसे कहा कि ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त पूरी तौर से गलत है, क्योंकि इस देश के चिकित्सकों ने उसे इसके विपरीत राय दी है। उन लोगों ने उसे बताया था कि यह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है। मैंने उसे सलाह दी कि वह भारत का निवासी है और वहीं लौटकर अपने पूर्वजों के उपदेश सुने, जिन्होंने हजारों वर्षों तक ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया है।" तदुपरान्त एक अवर्णनीय जुगुप्सा की अभिव्यक्ति के रूप में उनके चेहरे पर शिकन आ गयी और वे गरज उठे, "ब्रह्मचर्य को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध माननेवाले इस देश डॉक्टरो! तुम नहीं जानते कि तुम क्या कह रहे हो। तुम पवित्रता शब्द का अर्थ ही नहीं जानते। यदि इस विषय में यही तुम्हारा अन्तिम मत है, तो तुम बिलाव की नैतिकता वाले एक पशु हो...! एक पशु हो!" यह कहकर उन्होंने एक विजयी वीर के समान दृष्टि उठाकर श्रोताओं की ओर देखा, मानो वे इस प्रकार सबको चुनौती दे रहे हों। वहाँ कई चिकित्सक भी उपस्थित थे, परन्तु किसी के भी मुख से आवाज नहीं निकली।

उनके समस्त व्याख्यानों में बम छूटते थे। श्रोताओं को झटके देकर उन्हें उनके परम्परागत लीक से निकाल दिया जाता और तथाकथित विचारधारा के शिक्षानवीसों की निर्मम परन्तु रचनात्मक समालोचना की जाती थी। साम्प्रदायिक

ईसाई मतों के स्पष्ट रूप से विरोधी वेदान्त के अत्यद्भुत विचार वे मुस्कराते हुए बोल जाते और दाँतों के बीच अपना निचला होठ दबाकर मानो वे रुद्ध श्वास के साथ उसके फल का निरीक्षण करते। ऐसा कितनी ही बार हुआ करता था और उसका परिणाम भी कितना मनोरम होता था ! आप जरा कल्पना करके तो देखिए कि जब वे अपनी निम्नलिखित ज्वालामयी बातें कहते तो क्या प्रचलित ईसाई धर्म के उपदेशों पर इससे बढ़कर आक्रमण सम्भव था – "पश्चाताप मत करो ! पश्चाताप मत करो ! यदि आवश्यक हो तो उसे थूक दो, परन्तु आगे बढ़े चलो। पश्चाताप के द्वारा अपने को बन्धन में मत डालो। अपने पवित्र चिरमुक्त तथा वास्तविक आत्मा को जानकर पाप के बोझ जैसा कुछ हो तो उसे फेंक डालो। वही व्यक्ति वस्तुतः ईशनिन्दक है, जो तुम्हें पापी कहता है।" और फिर वे कहते, "यह संसार एक अन्धविश्वास है ! हम सम्मोहित होकर सोच रहे हैं कि यह वास्तविक है। इस सम्मोहन को दूर करने की प्रक्रिया ही मुक्ति की प्रक्रिया है। यह ब्रह्माण्ड प्रभु की लीला मात्र है। यह सब केवल मजाक भर है। उनके कुछ भी करने का कोई कारण नहीं हो सकता। यदि तुम ईश्वर की लीला समझना चाहते हो तो ईश्वर को जान लो। उनके खेल के साथी बनो और वे तुम्हें सब कुछ बता देंगे। और आप में से जो लोग दार्शनिक हैं, उनसे मेरा कहना है कि इस जगत के कारण के बारे में प्रश्न करना ही अयौक्तिक है, क्योंकि इससे ईश्वर को सीमाबद्ध किया जाता है, जिसे कि आप स्वीकार नहीं करते।" और इसके बाद वे अद्वैतवाद के मूलतत्त्वों की अपनी अद्भुत व्याख्या करने में लग गये।

इस विषय में होनेवाले व्याख्यानों के बाद सामान्यतः जो प्रश्न उठाये जाते, उनमें यह प्रश्न तो प्रायः निश्चित रूप से ही रहता, "परन्तु स्वामीजी, जब मनुष्य ईश्वर के साथ एकत्व का बोध कर लेता है, तो फिर उसकी व्यक्तिगत सत्ता का क्या होता है ?" वे इस प्रश्न पर हँस देते और व्यंगपूर्वक इसकी खिल्ली उड़ाते। वे इस शब्द को उपहासपूर्वक खींचकर उच्चारण करते हुए कहते, "तुम इस देश के लोग अपनी इन-डि-वि-डु-अ-लि-टी (व्यक्तिगत सत्ता) को खोने से इतना डरते हो ! क्यों ? अभी तो तुम लोग व्यक्तिगत सत्ता के अधिकारी ही नहीं हो; ईश्वर को जान लो तो हो जाओगे। जब तुम अपने सम्पूर्ण स्वभाव की अनुभूति कर लोगे, तब तुम अपने सच्चे व्यक्तित्व को भी पा सकोगे, पर उसके पहले नहीं। ईश्वर को जान लेने पर तुम कोई भी रखने योग्य वस्तु खोते नहीं। और भी एक चीज मैं इस देश में निरन्तर सुन रहा हूँ और वह यह है कि हमें प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्वक रहना चाहिए।" फिर उन्होंने हँसी उड़ाते हुए कहा, "प्रकृति के साथ सा-मं-ज-स्य ! क्यों ? क्या तुम नहीं जानते कि इस जगत् में जितनी भी प्रगति हुई है, वह सब प्रकृति

के साथ संघर्ष करके, प्रकृति पर विजय पाकर ही हुई है ? इस नियम का कभी कोई अपवाद नहीं हुआ। पेड़-पौधे प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्वक रहते हैं। वहाँ पूर्ण सामंजस्य है, कोई विरोध नहीं और कोई प्रगति भी नहीं है। यदि हमें कोई प्रगति करनी है, तो हमें पग पग पर प्रकृति का सामना करना होगा। कोई विचित्र घटना होती है, प्रकृति कहती है — 'रोओ' — और हम रोने लगते हैं।"

श्रोताओं के बीच से एक वृद्धा ने टोका, "परन्तु हम जिनसे प्रेम करते हैं, उनके लिए न रोना तो बड़ी कठिन बात है और उनके लिए शोक न व्यक्त करना तो बड़ी निर्ममता का परिचायक है।" उन्होंने उत्तर दिया, "महाशया, आप ठीक ही कह रही हैं, निःसन्देह यह कठिन है, परन्तु इससे क्या ? सभी महान उपलब्धियाँ तो कठिन ही हैं। कोई भी पानेयोग्य चीज सहज ही नहीं मिल जाती। परन्तु आदर्श को केवल इसलिए नीचा मत कर लीजिएगा कि उसे प्राप्त करना कठिन है। मुक्ति की पताका को ऊपर उठाये रखिये। महोदया, आप इसलिए नहीं रोतीं कि आप रोने की इच्छुक हैं, बल्कि प्रकृति आपको रोने के लिए मजबूर करती है। जब प्रकृति कहे — रोओ। तब आप कहें — नहीं, मैं नहीं रोऊँगी। शक्ति ! शक्ति ! शक्ति ! — यही रातदिन अपने को सुनाती रहिये। आप सबल हैं, पवित्र हैं, मुक्त हैं ! आपमें किसी भी दुर्बलता, किसी भी पाप, किसी भी दुःख का अस्तित्व नहीं है।"

ऐसी उक्तियाँ उनके प्रचण्ड व्यक्तित्व के साथ समन्वित होकर उन्हें जगत् के महानतम धर्माचार्यों की श्रेणी में पहुँचा देती है। इन व्याख्यानों के दौरान ऐसा प्रतीत होता मानो हम एक ऐसे महापुरुष के सान्निध्य के फलस्वरूप ऊर्ध्व अध्यात्मलोक में पहुँच गये हैं, जिसके लिए यह विश्व-प्रपंच एक उपहास के समान है और जिसके लिए एकमात्र सत्य वस्तु जगदातीत चेतना ही है।

स्वामीजी में हास्यरस का एक ऐसा अदम्य बोध था कि जिसके फलस्वरूप उनकी कक्षाएँ तथा व्याख्यान आनन्द से परिपूर्ण हो उठते थे और कभी कभी अवांछनीय परिस्थितियों में तनाव शान्त हो जाते थे। एक बार उनके एक व्याख्यान के अन्त में, जो ईश्वरीय चेतना की महिमा के आवेगपूर्ण उद्गार के साथ समाप्त हुआ, तो जब उनके सामने यह सन्देहपूर्ण प्रश्न उठाया गया, "स्वामीजी, क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" तो देखिए, उन्होंने किस प्रकार अपना बचाव किया। अपने चेहरे पर आनन्दपूर्ण मुस्कान लाते हुए उन्होंने प्रत्युत्तर दिया, "क्या कहा ? मुझे — मेरे समान मोटे आदमी को देखकर क्या ऐसा लगता है ?" इसके फलस्वरूप भगवद्-अनुभूति की महिमा के बारे में श्रोताओं के मन में जिस स्वतःस्फूर्त गम्भीर आनन्दोच्छ्वास का उदय हुआ, उसे देखने से ही हमारे पिछले मन्तव्य का मर्म समझ में आ जाता है।

एक अन्य समय जब वे अद्वैतवाद की व्याख्या कर रहे थे, तभी पहली पंक्ति में बैठा एक वृद्ध जान-बूझकर उठ खड़ा हुआ। उसकी निगाहें मानो स्पष्ट रूप से कह रही थीं, "मुझे इस स्थान से जितनी जल्दी हो सके चल देना चाहिए" – और वह लड़खड़ाते कदमों के साथ अपने हाथ की छड़ी को फर्श पर ठोकते हुए हॉल के बीच के रास्ते से बाहर चला गया। इस घटना का लगता है स्वामीजी ने बड़े आनन्द के साथ उपभोग किया, क्योंकि व्याख्यान के बीच ठहरकर जब वे उस व्यक्ति की ओर देख रहे थे, उस समय उनके चेहरे पर हास्य की रेखा दिखाई दे रही थी। श्रोताओं की दृष्टि एक ओर तो आमोदप्रिय स्वामीजी की तरफ और दूसरी ओर उस ऊब चुके वृद्ध की तरफ विभाजित हो गयी थी।

स्वामीजी के चरित्र का यह मनमौजीपना तथा परिहासप्रिय पक्ष किसी भी क्षण अभिव्यक्त हो उठता था। कुछ थियॉसाफिस्ट तथा नवचिन्तन के अध्येता मुख्यतः अलौकिकता की ही खोज में रहा करते थे। उनमें से एक ने पूछा, "स्वामीजी, क्या आपने कभी एलिमेण्टल (सूक्ष्म जीव) देखा है ?" तुरन्त उत्तर मिला, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं ! भारत में हम उन्हीं का नास्ता करते हैं।" फिर वे अपने विषय में भी हँसी करने में पीछे नहीं रहते थे। एक बार कुछ चित्रों का अवलोकन करते समय जब कुछ स्थूलकाय संन्यासियों के चित्र के सामने पहुँचे, तो बोल पड़े, "आध्यात्मिक लोग मोटे हुआ करते हैं। देखो न, मैं कितना मोटा हूँ।" एक बार साधुओं की भविष्यवाणी करने की क्षमता के बारे में बोलते हुए उन्होंने कहा था, "बचपन में एक दिन जब मैं खेल रहा था, तो उधर से गुजरते हुए एक महात्मा ने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा, 'बेटा, किसी दिन तुम एक बड़े महान व्यक्ति बनोगे।' और देखिए आज मैं कहाँ हूँ !" यह छोटी-सी गर्वोक्ति बोलते समय उनका चेहरा आमोद से आलोकित हो उठा था। ऐसा था उनका विनोदपूर्ण सरल स्वभाव कि श्रोतागण उनके चुटकुलों में खो जाते थे। एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा, "ईसाई नरक की धारणा मुझे बिल्कुल भी आतंकित नहीं करती। मैंने दान्ते का 'इन्फर्नो' (नरक) तीन बार पढ़ा है, परन्तु मैं यह कहने को बाध्य हूँ कि मुझे उसमें कुछ भी संत्रासजनक नहीं लगा। हिन्दुओं में भी अनेक प्रकार के नरक हैं। उदाहरणार्थ जब एक पेटू व्यक्ति मरता है, तो उसे अति बृहत् परिमाण में उत्तम उत्तम खाद्यपदार्थों के बीच रखा जाता है। उसका पेट हजारों मील लम्बा होता है और मुख पिन के आकार का। जरा सोच कर तो देखिए !" इस व्याख्यान के दौरान वायुसंचार की अच्छी व्यवस्था न होने के कारण उन्हें बड़ी गरमी लग रही थी। व्याख्यान के पश्चात् बाहर निकलने पर उन्हें उत्तरी ठण्डी हवा का जोर का झोंका लगा। अपने कोट से शरीर को जोरों से लपेटते

हुए उन्होंने तीव्र आवाज में कहा, "भाई, यदि इसे नरक न कहा जाय, तो मैं नहीं जानता कि नरक क्या होता है ।"

गृहस्थ के जीवन की संन्यासी के जीवन से तुलना करते हुए एक दिन उन्होंने कहा, "किसी ने मुझसे पूछा था कि मैंने विवाह किया है या नहीं ।" इतना कहकर वे ठहर गये तथा मुस्कराते हुए उन्होंने श्रोताओं की ओर देखा और इसके साथ ही अनेक लोगों की दबी हुई हँसी की आवाज सुनाई दी । पर इसके बाद उनके चेहरे पर मुस्कराहट के स्थान पर भीति का भाव प्रकट हुआ और उन्होंने कहना जारी रखा, "क्यों ? मैं किसी भी कीमत पर विवाह करने को राजी नहीं हूँ; वह तो शैतान की चालबाजी है !" मानो वे अपनी बातों पर जोर देने के लिए ही बीच में ठहर गये । फिर इसी बीच जो प्रशंसा की गूँज शुरू हो गयी थी, उसे रोकने के लिए हाथ उठाकर अपने चेहरे पर गम्भीरता का भाव लाकर उन्होंने अपना वक्तव्य जारी रखा, "तो भी, संन्यासप्रथा के विरुद्ध मुझे एक आपत्ति है और वह यह कि (पुनः ठहरकर) यह समाज को सर्वोत्तम लोगों से वंचित कर देता है ।" इसके बाद श्रोताओं की तालियों तथा प्रशंसा की जो ध्वनि उठी, उसे उन्होंने रोकने का प्रयास नहीं किया । यह उनका छोटा-सा विनोद था और उन्होंने इसका मजा लिया । एक अन्य अवसर पर गम्भीरतापूर्वक बोलते हुए वे परिहास पर उतर आये, "जैसे ही किसी व्यक्ति को थोड़ा बोध होता है, वह इस दुनिया से चल देता है । वह शुरू करता है एक बड़ा-सा पेट लेकर, जो उसके सिर की तुलना में आगे उभरा होता है । उसमें विवेक का उदय होते ही पेट लुप्त हो जाता है और सिर प्रधान हो जाता है । इसके बाद वह मर जाता है ।"

विश्व के सर्वाधिक परिपक्व धार्मिक विचारों को आत्मसात् कर लेने तथा उनकी व्याख्या करने की अप्रतिम शक्ति के साथ उनके युवा-व्यक्तित्व का एक ऐसा विरोधाभास था कि उनकी आयु के बारे में काफी अटकलें लगायी जाती थीं । इस बात से वे अवश्य ही अवगत थे, क्योंकि एक बार इसी विषय को लेकर उन्होंने श्रोताओं के साथ थोड़ा विनोद भी किया था । व्याख्यान के विषय के साथ संगति बनाये रखकर उन्होंने अपनी आयु का प्रसंग उठाया और बोले, "मेरी आयु केवल – (वे थोड़ा ठहरे और श्रोतागण साँस रोककर प्रतीक्षा करते रहे) – कुछ वर्ष है ।" – शरारतपूर्वक वे केवल इतना ही बोले । श्रोताओं ने निराशा के साथ ठण्डी साँस भरी । स्वामीजी आनन्दध्वनि की आशा में उन लोगों की ओर देखते रहे, क्योंकि वे जानते थे कि वह अवश्य उठेगी । श्रोताओं के समान ही वे स्वयं भी अपने व्यंग-विनोद का रस लिया करते थे । एक बार वे एक विशेष चुटकुला सुनाकर स्वयं ही 'हो-हो' कर हँस पड़े और इसके साथ ही पूरा हॉल ठहाकों से गूँज उठा । वह चुटकुला मैं बिल्कुल

ही भूल चुका हूँ। बड़े खेद की बात है यह! 'भारत के आदर्श' पर उनकी व्याख्यानमाला के दौरान यह तथ्य उजागर हुआ कि वे अद्भुत कलाकार भी हैं और सम्भवतः इसी क्षेत्र में चरम उत्कर्ष के अधिकारी थे। अपनी मौलिक शैली में पौराणिक कथाएँ बोलते समय वे उन्हें ऐसा सजीव कर डालते कि वक्तव्य विषय उनकी अनुपम व्याख्या शैली का उपयोग करने का मौका देता और चेहरे पर विभिन्न भाव-भंगिमाएँ लाने की क्षमता के रूप में उनके व्यक्तित्व की जो परम आकर्षक चीज थी, कथाएँ सुनाते समय उन्हें भी पूरा मौका मिलता। वे बताते, "इन कहानियों को सुनाना मुझे बड़ा प्रिय है; इन्हीं में भारत की प्राणशक्ति निहित है। मैं इन्हें बचपन से ही सुनता आया हूँ और इन्हें सुनाते मैं कभी थकता नहीं।"

स्वामीजी कभी कभी जब अपने श्रोताओं के समक्ष अपनी अतीन्द्रिय शक्तियों की उन अद्भुत तरंगों को रोकने का प्रयास छोड़कर उन्हें उन्मुक्त छोड़ देते, तो लोग उनके प्रति श्रद्धाविभोर हो जाते। जैसा कि एक बार उन्होंने कहा था, "मेरे लिए सभी चेहरे प्रीति के योग्य हैं। जैसे एक इथोपियावासी के चेहरे में भी हेलेन का सौन्दर्य देखना सम्भव है, वैसे ही हमें सबके भीतर ईश्वर-दर्शन का प्रयास करना चाहिए। सभी, यहाँ तक कि बुरे-से-बुरे लोग भी माँ की सन्तान हैं। भले तथा बुरे का सम्मिश्रण — यह विश्व भगवान की लीला मात्र है!"

व्यक्तिगत साक्षात्कार के समय वे एक आदर्श अतिथिपरायण व्यक्ति थे; उस समय न केवल वे खुले दिल से बातचीत तथा तर्क करते और कथाएँ सुनाते, बल्कि ऐसा लगता मानो वे स्वयं भी उसमें आनन्द ले रहे हों। उनके साथ अपने प्रथम साक्षात्कार के दौरान मुझे जो एक सुखद मानसिक आघात लगा था, उससे मैं कभी पूरी तरह से उबर नहीं पाया। उनके शरीर पर धूसर रंग का एक लबादा था और वे पाँव मोड़कर एक कुर्सी पर बैठे हुए थे। उस समय वे पाइप से धूम्रपान कर रहे थे और उनकी सुन्दर केशराशि चारों ओर बिखरी हुई थी। मेरे अग्रसर होने पर उन्होंने सप्रेम हाथ बढ़ा दिया और बैठने को कहा। उन साक्षात्कारों के कुछ विच्छिन्न अंश ही अब मेरी स्मृति में रह गये हैं। इन महान संन्यासी के सम्पर्क की जो थोड़ी-बहुत स्मृतियाँ तथा प्रेरणाएँ अब भी बची हुई हैं, वे मेरे जीवन की महानतम अनुभूतियों से कम का दर्जा लेने को तैयार नहीं हैं।

मन के आध्यात्मिक प्रशिक्षण के विषय में उन्होंने कहा था, "जितना कम पढ़ो, उतना ही अच्छा है। पुस्तकें दूसरे लोगों के मस्तिष्क की उल्टियाँ छोड़ भला और क्या हैं? जिन चीजों से पीछा छुड़ाना पड़ेगा, उनके बोझ से मन को भर देने से क्या लाभ? गीता तथा वेदान्त विषयक अन्य अच्छे ग्रन्थों को पढ़ो। तुम्हारे लिए इतना ही काफी

है।" इसके बाद उन्होंने कहा, "आज की पूरी शिक्षाप्रणाली ही गलत है। मन को विचार करना सिखाने के पहले ही उसे विभिन्न तथ्यों से ठूँस-ठूँसकर भर दिया जाता है। सबसे पहले मन:संयम सिखाना चाहिए। यदि मुझे फिर नये सिरे से पढ़ाई करनी हो और इस विषय में मुझे स्वाधीनता प्राप्त हो, तो सर्वप्रथम मैं अपने मन पर अधिकार जमाने का प्रयास करूँगा और तदुपरान्त यदि इच्छा हुई तो तथ्य संग्रह करूँगा। लोगों को कुछ भी सीखने में काफी समय लग जाता है, क्योंकि वे अपने मन को इच्छानुसार एकाग्र नहीं कर सकते। मैकाले लिखित इंग्लैण्ड का इतिहास याद करने के लिए मुझे उसे तीन बार पढ़ना पड़ा था, जबकि मेरी माँ कोई भी धर्मग्रन्थ एक बार पढ़कर ही कण्ठस्थ कर लेती थीं। लोग अपने मन को संयमित नहीं कर पाते, इसी कारण सर्वदा कष्ट उठाया करते हैं। अमार्जित होने पर भी यह उदाहरण लें — एक व्यक्ति की उसकी पत्नी के साथ अनबन है; पत्नी उसे छोड़कर दूसरे आदमी के साथ रहने चली ज़ाती है। वह औरत विभीषिका की प्रतिमूर्ति है! परन्तु उस बेचारे व्यक्ति की ऐसी हालत है कि वह उस औरत से अपने मन को नहीं हटा सकता और इस कारण वह कष्ट भोगता है।"

परिव्राजक संन्यासियों में प्रचलित भिक्षा माँगने की प्रथा त्याग की विरोधी क्यों नहीं है? — जब मैंने इसकी व्याख्या करने को कहा, तो वे बोले, "सवाल मन के भाव का है। मन यदि अपेक्षा रखता है और फल के द्वारा प्रभावित होता है, तो यह नि:सन्देह बुरा है। भिक्षा के दान तथा ग्रहण के बीच स्वाधीनता होनी चाहिए, अन्यथा वह त्याग नहीं है। यदि तुम उस मेज पर मेरे लिए सौ डालर रख दो और आशा करो कि मैं इसके लिए तुम्हें धन्यवाद दूँ, तो मैं उसे छूऊँगा तक नहीं, तुम उसे वापस ले सकते हो। मेरे भरण-पोषण की व्यवस्था मेरे यहाँ आने के पहले ही, मेरे जन्म लेने के पहले ही हो चुकी है। इसके लिए मुझे बिल्कुल भी चिन्ता नहीं है। जो वस्तु जिसका है, वह उसे मिलेगा ही। उसके जन्म के पहले ही यह निश्चित हो चुका है।"

जब उनसे पूछा गया, "ईसा मसीह के दैवी जन्म के बारे में आपकी क्या धारणा है?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "यह एक प्राचीन विश्वास है। भारत में भी अनेक लोग इस तरह के दावे कर गये हैं। मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता। परन्तु जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं खुश हूँ कि मेरे स्वाभाविक मातापिता हैं।" मैंने साहसपूर्वक कहा, "परन्तु ऐसा मतवाद क्या प्राकृतिक नियमों का विरोधी नहीं है?" फर्श पर बिछे गलीचे की ओर दृष्टि लगाये अपनी पादुका के निचले हिस्से पर पाइप की राख झाड़ते हुए वे बोले, "ईश्वर के समक्ष प्रकृति का महत्त्व ही क्या है? यह सब तो उन्हीं की लीला है!" तत्पश्चात् पाइप को साफ करने के लिए उसके भीतर से फूँक

मारने के बाद वे कहने लगे, "हम लोग प्रकृति के दास हैं और ईश्वर प्रकृति के स्वामी हैं। वे जैसा चाहें, कर सकते हैं। उनकी इच्छा हो तो वे एक साथ एक अथवा दर्जन भर शरीर धारण कर सकते हैं और जैसा चाहे वैसा शरीर धारण कर सकते हैं। हम लोग भला उन्हें सीमाबद्ध कैसे कर सकेंगे ?"

राजयोग के विषय में विस्तारपूर्वक अनेक प्रश्नों के उत्तर देने के बाद उन्होंने एक मित्रतापूर्ण मुस्कराहट के साथ अन्त में कहा, "परन्तु राजयोग को लेकर सिर खपाने की क्या आवश्यकता ? और मार्ग भी तो हैं।"

उस दिन मकान के सामने के एक कमरे में राजयोग की कक्षा के लिए जो समय निर्धारित था, हमारा साक्षात्कार लम्बे समय तक चलने के कारण उसमें पन्द्रह मिनट का विलम्ब हो गया। जो महिला इन सबकी व्यवस्था देखती थीं, वे तेजी से इस कमरे में आकर हमारी बातचीत में बाधा देते हुए बोलीं, "यह क्या स्वामीजी, योग की कक्षा के बारे में तो आप बिल्कुल ही भूल गये हैं ! पन्द्रह मिनट की देरी हो चुकी है और कमरा लोगों से भर चुका है।" स्वामीजी तुरन्त उठ खड़े हुए और मुझसे उच्च स्वर में बोले, "ओह, मुझे माफ करना, अब हम लोग सामने के कमरे में जाएँगे।" मैं हॉल के भीतर से होते हुए सामने की ओर चल पड़ा और वे, हम जिस कमरे में बैठे हुए थे तथा सामने के कमरे के बीच में स्थित अपने शयनकक्ष से निकले। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि उनके बाल बिखरे हुए थे; परन्तु अब वे भलीभाँति कंघी किये हुए थे और उनके शरीर पर संन्यासी की वेशभूषा थी। जिस कमरे में बैठकर वे बिखरे बालों तथा ड्रेसिंग गाउन पहने वार्तालाप पर रहे थे, वहाँ से उठकर व्याख्यान के लिए तैयार होने तथा मन्थर गति से सामने के कक्ष तक पहुँचने में उन्हें एक मिनट से अधिक का समय नहीं लगा होगा। गति एवं कार्यकुशलता में सचमुच ही वे सानी नहीं रखते थे। तथापि वे अपने लिए जो गति निर्धारित कर लेते थे, उसमें फेरबदल करने के लिए उन्हें राजी करा पाना कभी कभी कठिन हो जाता। मान लीजिए कि किसी दिन व्याख्यान का निर्धारित समय बीता जा रहा है, ऐसी अवस्था में भी कभी कभी ट्राम या बस पकड़ने के लिए उन्हें शीघ्रतापूर्वक चला पाना कठिन होता। शीघ्रता करने के अनुरोध के उत्तर में वे धीरे धीरे कहते, "मुझसे इतनी शीघ्रता करने को क्यों कहते हो ? यह गाड़ी यदि छूट गयी तो हम अगली गाड़ी पकड़ लेंगे।"

इन योग की कक्षाओं में जैसा मनुष्य एवं आचार्य (विवेकानन्द) का निकट सान्निध्य मिलता, वैसा व्याख्यान-कक्ष में सम्भव न था। इनमें व्यक्तिगत सम्पर्क होता और प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता। पवित्रता, सरलता तथा ज्ञान की प्रतिमूर्ति होकर मानो वे एक मर्मभेदी शक्ति के साथ बोलते थे और इसके परिणामस्वरूप मन राजयोग

की साधनाओं में निपुण होने की अपेक्षा ईश्वर तथा त्यागभाव की ओर कहीं अधिक उन्मुख होता।

एक छोटा-सा व्याख्यान देने के पश्चात् वे आसन लगाकर कोच पर बैठ जाते और श्रोताओं में से जो लोग ध्यान सीखने के लिए ठहर जाते, उन लोगों को ध्यान की शिक्षा देते। उस दिन वे राजयोग तथ प्राणायाम की सहज व्यावहारिक विधियों पर बोले। उनके वक्तव्य के किंचित् अंश इस प्रकार हैं — ठीक से बैठने और फिर ठीक ढंग से साँस लेने की विधि सीखनी होगी। इससे एकाग्रता विकसित होती है और तब ध्यान होता है। प्राणायाम करते समय कल्पना करो कि तुम्हारा शरीर ज्योतिर्मय है। मस्तिष्क के नीचले भाग (सहस्रार) से मूलाधार तक मेरुदण्ड के भीतर से नीचे की ओर देखने का प्रयास करो। कल्पना करो कि तुम पोले सुषुम्ना से होकर कुण्डलिनी को मस्तिष्क की ओर उठते हुए देख रहे हो। धैर्य रखो। महान धैर्य की आवश्यकता है।"

जो लोग सन्देह या भय व्यक्त करते, उन्हें आश्वस्त करते हुए वे कहते, "मैं इस समय तुम लोगों के साथ हूँ। मेरे ऊपर थोड़ा-सा विश्वास रखने का प्रयास करो।" लोग उनकी समझाने की शक्ति के कायल हो जाते, जब वे कहते, "हम इसलिए ध्यान सीख रहे हैं, ताकि ईश्वर का चिन्तन कर सकें। राजयोग इसी उद्देश्य की उपलब्धि का एक साधन है। राजयोग के रचयिता महायोगी पतंजलि सर्वदा यही बात अपने शिष्यों के मन में दृढ़ांकित करने में तत्पर रहा करते थे। तुम लोगों में से जो युवक हैं, उनके लिए यही उपयुक्त समय है। ईश्वर का चिन्तन करने के लिए बुढ़ापा आने की प्रतीक्षा मत करो, क्योंकि तब तुम उनका चिन्तन नहीं कर सकोगे। तरुणावस्था में ही ईश्वरचिन्तन की शक्ति विकसित होती है।"

संन्यासी के वेश में भूषित, कोच पर आसन लगाकर, गोद में एक पर दूसरा हाथ रखे, प्रायः निमीलित नेत्रों के साथ वे इसने स्थिर भाव से बैठते कि एक कास्यमूर्ति के समान प्रतीत होते। केवल अतीन्द्रिय भावराज्य के प्रति सचेतन रहनेवाले वे एक ऐसे आदर्श पुरुष थे, जिनके प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं प्रीति का स्वतः ही उद्रेक होता था। सचमुच ही वे एक योगी थे।

अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
चेन्नै - ६०० ००४

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई. में इस मठ की स्थापना हुई। यह अपने बहु-आयामी सेवाओं के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। भक्तों तथा अनुरागियों की काफी काल से चली आ रही हार्दिक इच्छा की पूर्ति के लिए मठ-परिसर में श्रीरामकृष्ण के एक भव्य मन्दिर का निर्माण का कार्य हाथ में लिया गया है। रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई. को इस मन्दिर का शिलान्यास हुआ और इसका निर्माण-कार्य प्रगति पर है। श्रीरामकृष्ण समन्वय तथा सार्वभौमिकता की प्रतिमूर्ति थे और उनका सन्देश वर्तमान युग की आशाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करता है, अतः उनका मन्दिर भी सार्वभौमिक भावों से युक्त होगा।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बननेवाले इस मन्दिर में १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। ग्रेनाइट पत्थरों से बन रहे इस मन्दिर की अनुमानित लागत चार करोड़ रुपये आँकी गयी थी, परन्तु मन्दिर के प्रस्तावित आकार में वृद्धि और सामग्री तथा मजदूरी के दरों में वृद्धि के फलस्वरूप अब इसकी अनुमानित लागत बढ़कर साढ़े छह करोड़ हो गयी है।

इस तरह के एक विशाल तथा पुनीत कार्य को समाज के सभी स्तर के लोगों की शुभेच्छा तथा सहयोग से ही पूरा किया जा सकता है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में सहभागी होने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायगा। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट RAMAKRISHNA MATH, CHENNAI' के नाम से बनवाकर भेजें।

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

For Details Contact Sri Ramakrishna Math, Mylayore, Chennai-4
Phone . 494 1213, 494 1959, Fax 493 4589

अध्यापक पूर्णसिंह की दृष्टि में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

हिन्दी साहित्य का शायद ही कोई ऐसा अध्येता होगा, जो अध्यापक पूर्ण सिंह के नाम से परिचित न हो, परन्तु साथ ही इस बात से कम लोग ही परिचित हैं कि उनके जीवन तथा लेखन पर श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द का गहरा प्रभाव पड़ा था। इस सम्बन्ध में कुछ तथ्य यहाँ प्रस्तुत हैं।

सरदारजी का जन्म १८८१ ई. में पश्चिमी पंजाब (अब पाकिस्तान में) के ऐबटाबाद जिले के एक छोटे-से ग्राम में हुआ था। शिक्षा के दौरान रसायन-शास्त्र उनका प्रमुख विषय था और इसी विषय पर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए १९०० ई. में वे जापान गये। वहाँ उन्होंने टोकियो के इम्पीरियल विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और वहीं इण्डो-जापानी क्लब में उनकी स्वामी रामतीर्थ से भेंट हुई। इस महान व्यक्तित्व से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने संन्यास तक ले लिया, परन्तु बाद में वे पुनः सिख धर्म में लौट आये। १९०४ ई. में वे भारत लौटे। बाद में उन्होंने देहरादून के फारेस्ट अकादमी में रसायन-शास्त्र का शिक्षणकार्य अपना लिया और इसी कारण वे अपने नाम के आगे अध्यापक लिखने लगे। उन्होंने हिन्दी में कुल मिलाकर केवल ७-८ निबन्ध ही लिखे होंगे, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्हें अमर बनाने के लिए यथेष्ट थे। उनके ये अधिकांश हिन्दी लेख १९०८ से १९१२ ई. के दौरान 'सरस्वती' मासिक में प्रकाशित हुए थे।

आधुनिक हिन्दी के निर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुरोध पर ही उन्होंने हिन्दी में लेखन आरम्भ किया। 'सच्ची वीरता' शीर्षक के साथ उनका पहला निबन्ध सरस्वती के १९०८ ई. के किसी अंक में निकला। उनके बाकी निबन्धों के विषय हैं — 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता', 'पवित्रता', 'कन्यादान', 'ब्रह्मकान्ति', 'नयनों की गंगा' और 'अमेरिका का मस्तयोगी : वाल्ट ह्विटमैन'। पं० भोलानाथ तिवारी के शब्दों में, "उनके ये निबन्ध इतने सशक्त हैं कि इतने थोड़े निबन्धों ने ही सरदार पूर्ण सिंह को निबन्धकार के रूप में स्थापित कर दिया है।" और पं. रामचन्द्र तिवारी ने उन्हें द्विवेदी युग का श्रेष्ठ निबन्धकार माना है।

यह एक अद्भुत विरोधाभास प्रतीत होता है कि हिन्दी के इस मूर्धन्य लेखक को

देवनागरी लिपि नहीं आती थी। वे अपनी रचना उर्दू या गुरुमुखी में लिखकर किसी अन्य से उसका लिप्यन्तरण करा लेते थे। सम्भवतः लिपि की इस असुविधा के कारण ही उन्होंने अपना अधिकांश लेखन अंग्रेजी तथा अपनी मातृभाषा पंजाबी में किया है। आंग्ल भाषा में उन्होंने नौ काव्य-संग्रह तथा पन्द्रह गद्य-संग्रह लिखे हैं और पंजाबी में उनके तीन काव्य तथा एक निबन्ध संग्रह हैं। टोकियो में रहते समय उन्होंने जापानी तथा जर्मन भाषा पर भी अधिकार पा लिया था। उन्हें केवल पचास वर्ष की ही आयु मिली थी।

* * *

अपनी पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में ही पूर्णसिंह को स्वामी विवेकानन्द का साक्षात् दर्शन तथा व्याख्यान सुनने का सौभाग्य हुआ था। यह घटना उस समय हुई, जब स्वामीजी अपनी पाश्चात्य देशों की जययात्रा से लौटकर १८९७ ई. में लाहौर पधारे थे। अपनी स्वामी रामतीर्थ की जीवनी में उन्होंने इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है – "स्वामीजी ध्यानसिंह की हवेली में ठहरे हुए थे। और मुझे आज की इस घड़ी में भी वह दृश्य स्पष्ट रूप से दिखायी देता है, जब स्वामीजी का भाषण सुनने उस हवेली के विशाल भवन में लाहौर का साफाधारी कितना विशाल जनसमूह इकट्ठा हुआ था। मैं उस समय निरा बालक ही था, पंजाब विश्वविद्यालय की इण्टर परीक्षा के लिए कॉलेज में पढ़ रहा था। किन्तु उस दृश्य की जो छाप मेरी स्मरणशक्ति पर पड़ी, वह किसी प्रकार धोयी नहीं जा सकती। हवेली ठसाठस भर गयी थी और बहुत से मनुष्य आंगन में जमा हो गये थे। स्वामीजी के दर्शनों के लिए उत्सुक सज्जन कन्धे से कन्धा भिड़ाकर भवन में प्रवेश करने की चेष्टा कर रहे थे। स्वामीजी ने जब ऐसी उत्सुकता और प्रबन्ध से बाहर जानेवाली भीड़ देखी, तो बोले – मैं खुली हवा में भाषण दूँगा। हवेली का प्रांगण – आंगन बहुत बड़ा है और बीच में मन्दिर के आकार का एक ऊँचा प्लेटफार्म भी है। स्वामीजी उसी चबूतरे पर चढ़ गये और उस समय उनकी छवि, उत्तम स्वास्थ्य से दमकता हुआ विशालकाय शरीर, संन्यासी की वेषभूषा, प्राचीन ऋषियों की याद दिलानेवाली मुखमुद्रा, बड़ी बड़ी मनोहर आँखें, जिनका जादू सारी हवा में व्याप्त हो रहा था! बदन पर एक दुपट्टा उन्होंने लपेटा हुआ था और सिर पर पंजाबी फैशन में नारंगी रंग का साफा बाँधे थे। थोड़ी देर में जब वेदान्त केसरी ने गरजना आरम्भ किया और घण्टों दहाड़ते रहे, तब पंजाबी ऐसी शान्ति से सुन रहे थे, जैसे जादू मार गया हो।"

इसी प्रसंग में उन्होंने आगे लिखा है, "उनका देवताओं जैसा धाराप्रवाह भाषण, उनका सर्वस्व बलिदान करनेवाला त्याग, उनकी शक्ति, उनका व्यक्तित्व, उनका विशाल मस्तिष्क – सबने मिलकर लोगों पर गहरा प्रभाव डाला।"[१]

उपरोक्त वर्णन से हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा व्याख्यानों से पूर्णसिंह किस हद तक प्रभावित हुए थे। भविष्य में उन्होंने स्वामीजी तथा उनसे सम्बन्धित साहित्य का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था और इसके फलस्वरूप वे स्वामीजी से भी बढ़कर वे उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्णदेव के प्रभाव में आये थे। अपने 'पवित्रता' निबन्ध में वे लिखते हैं, "पवित्रता का चिन्तन करते हुए ये मेरे मन के कमरे की दीवारों पर जो चित्र लटक जाते हैं, उनका वर्णन करना ही लेखक के लिए तो पवित्रता का स्वरूप जतलाना है। लेखक इस कमरे में कई बार घण्टों इन चित्रों के चरणों में बैठा है – इन चित्रों की पूजा की है और इनसे पवित्रता के स्वरूप को जितना भी हुआ, अनुभव किया है।" उनके मन मन्दिर के चित्रों में एक मूर्ति श्रीरामकृष्ण की भी है, जिसका वर्णन करते हुए वे आगे लिखते हैं, "कुलकत्ते के पास एक निरक्षर नंगा कालीभक्त है। कालीभक्त क्या ? ब्रह्मकान्ति का देखनेवाला फकीर है। इसके नेत्र और इसका सिर, मेरे तेरे नेत्रों और सिरों से भिन्न है। किसी और धातु के बने हुए हैं। मामूली साधु नहीं, जो छू छू करते फिरते हैं। एक कोई स्त्री आयी। आप चीखकर उठे। माता कहकर उसके चरणों पर सिर रख दिया। मेरी तेरी निगाहों में वह कंचनी ही थी। पर रामकृष्ण परमहंस की तो जगत्-माता निकली। देखकर मेरी आँखें फूट (खुल) गयीं। और मैंने भी दौड़कर उसके चरणों में शीश रख दिया। तब उठाया, जब आज्ञा हुई। दरिद्रो ! तुम क्या दे रहे हो ? मेरे सामने परमहंस ने कुल विराट् इस माता के चरणों में लाकर रख दिया। नेत्र खोल दिये। अहिल्या की तरह अपना साधारण शरीर छोड़कर यह देवी आकाश में उड़ गयी। कहोगे 'पूर्ण तो मूर्तिपूजक हो गया ?' कुछ भी कहो – मेरे मन की कोठरी ऐसी मूर्तियों से भरी है। इस बुतपरस्ती से पवित्रता मिलने के भाग खुलते हैं, पवित्रता को अनुभव कर ब्रह्मकान्ति का दर्शन होता है।"[२]

* * *

पूर्णसिंह की एक अंग्रेजी पुस्तक है - The Spirit of Oriental Poetry (प्राच्य

१. स्वामी राम जीवनकथा, सरदार पूरनसिंह, अनु. दीनदयालु श्रीवास्तव, सं. १९६४ (वि.), पृ. १२२-२३

२. सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध, संपा. प्रभात शास्त्री, (प्र. सं.) पृ. ८३ तथा ९२

कविता का भावप्रवाह), जिसमें उन्होने अपने जीवन में प्रेरणा का आनयन करनेवाले एशियाई कवियों के काव्य का मूल्यांकन किया है। इसमें भारतीय कवियों के साथ ही साथ कुछ फारसी तथा जापानी कवियों की भी समीक्षा की गयी है। इसी ग्रन्थ में वे लिखते हैं, "आधुनिक बंगाल में श्रीरामकृष्ण परमहंस की कुछ काव्यात्मक उक्तियों को छोड़ और कुछ भी जीवनदायी साहित्य नहीं है।" फिर श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन-काव्य का थोड़ा सविस्तार वर्णन करने के उपरान्त वे लिखते हैं, "ये (विवेकानन्द) ही हैं उस व्यक्ति (श्रीरामकृष्ण) के शिष्य, जिनके चरणों में हम जीवन को समझने के लिए प्रणत हो जाते हैं। उनका स्पर्श हमें कवियों में परिणत कर देता है। उनकी धूनी की राख में कविता भरी पड़ी है। सभी आध्यात्मिक प्रतिभाओं की भाँति ही रामकृष्ण परमहंस भी मनुष्य-निर्माता थे। वह आध्यात्मिक ज्योति, जो दक्षिणेश्वर में प्रज्ज्वलित हुई और कुछ काल तक रामकृष्ण परमहंस के प्रेरित प्रचारक स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से चमकी, उसके अतिरिक्त मुझे बंगाल की धरा पर और कुछ भी (उल्लेखनीय) नहीं दिखायी देता।"[३]

अपनी 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक लेख में मानो स्वामीजी के 'वन का वेदान्त जीवन में' और 'शिवभाव से मानव-सेवा' के भाव को ही प्रतिध्वनित करते हुए वे लिखते हैं, "हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानों के रूप में निकलती है। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। ... किसान मुझे अन्न में, फूल में आहूत हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं ब्रह्माहुति से जगत पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्म के समान है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। ... दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं।

"मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मन्दिर और गिरजे में क्या रहा है ? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो; आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है — यही धर्म है। ... मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। ... सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है

३. The Spirit of Oriental Poetry, पृ. ५८ - ६०

कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पण्डितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। ... लकड़ी, ईंट, पत्थर को मूर्तिमान करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान वैसे ही पुरुष हैं जैसे कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

"निकम्मे बैठे हुए चिन्तन करते रहना अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी नहीं करेंगे, तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्तकाल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी।

"गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों किया करते हो ? गिरजे की घण्टी क्यों सुनते हो ? रविवार क्यों मानते हो ? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो ? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो ? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

"धन की पूजा करना नास्तिकता है, ईश्वर को भूल जाना है ...। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य पूजा से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।"

उपरोक्त उद्धरणों से हमें सहज ही आभास हो जाता है कि अध्यापक पूर्णसिंह के जीवन तथा साहित्य को इन युग्म व्यक्तित्वों ने कितनी गहराई से प्रभावित तथा रूपायित किया था।
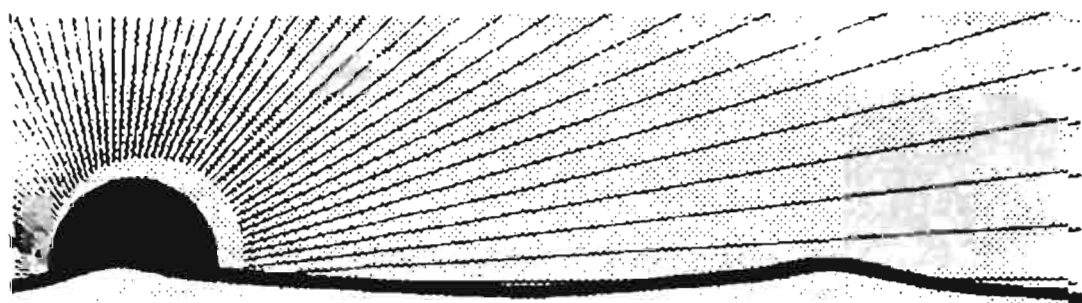
स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(बँगला पत्रों से संकलित)

— ६२ —

तुम लोग अच्छी तरह कार्य कर रहे हो, जानकर आनन्दित हुआ। मन-प्राण लगाकर यथासाध्य कार्य करने से इहलोक और परलोक दोनों का ही काम होता है। अन्तर्यामी प्रभु सब कुछ देखते रहते हैं और यथायोग्य व्यवस्था करते हैं। 'यथा भाव तथा लाभ' — ठाकुर का यह परम वाक्य सर्वदा स्मरण रखने का प्रयास करना। प्रभु का अभिप्राय समझने की किसी में भी क्षमता नहीं है। वे महा अमंगल के बीच से भी मंगल की सृष्टि करते रहते हैं। ऊपरी दृष्टि से यह सब महा अनर्थक दिखने पर भी, उनका उद्देश्य अवश्य ही कल्याणकारी है। क्योंकि वे मंगलमय और करुणासिन्धु हैं। ... प्रभु के मन में जो है, वही होगा। हम लोग अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होने पर अपने आपको धन्य और कृतार्थ समझेंगे।

— ६३ —

इस बार आपका पत्र बड़ा लम्बा है। परन्तु इतना लिखने से क्या होगा ? मेरे लिए तो यह ठाकुर के उस 'पंचांग निचोड़ने' वाली बात के समान ही है — "पंचांग में लिखा है कि २० इंच पानी बरसेगा, तो भी क्या ? उसे निचोड़ने से तो एक बूँद भी जल नहीं मिलता।" शास्त्र में जीवन्मुक्त, परमहंस आदि अनेक अवस्थाओं की बहुत-सी बातें लिखी हैं। वह सब यदि जीवन में अनुभूत तथा परीक्षित न हो, तो वह इसके अतिरिक्त और क्या —

> **पुस्तकस्था च या विद्या परहस्तगतं धनम्।**
> **कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्।**

— जो विद्या केवल पुस्तक में ही आबद्ध है और जो धन दूसरों के हाथ में जा चुका है; आवश्यकता पड़ने पर न तो वह विद्या विद्या है और न वह धन धन ही है।

निधि प्राप्त हो जाने पर क्या मेरी यही दशा होती ! तो भी उतावली करने से कुछ नहीं होता — यही बात थोड़ा-सा समझ सका हूँ। मुझे तो यह निश्चित रूप से सत्य प्रतीत होता है कि उनकी दया और उनकी कृपा के बिना उन्हें प्राप्त करना असम्भव है। केवल परमहंस अवस्था में ही क्यों, किसी भी अवस्था में उनके श्री चरण-कमलों को छोड़कर दूसरी कोई गति है — ऐसी बात किसी ने कहीं पर कही हो, मुझे तो स्मरण नहीं आता।

रामं चिन्तय चित्तबर्बर चिरं चिन्ताशतैः किं फलम्
किं मिथ्या बहुजल्पनेन सततं रे वक्त्र रामं वद ।
कर्ण त्वं श्रृणु रामचन्द्रचरितं किं गीतवाद्यादिभिः
चक्षुः राममयं निरीक्ष सकलं रामात्परं त्यज्यताम् ॥

— रे दुष्ट चित्त, सर्वदा श्रीराम का चिन्तन किया कर, दूसरी सैकड़ों प्रकार की चिन्ताओं से क्या लाभ ? रे मुख, सर्वदा राम का नाम ले, बहुत सी निरर्थक मिथ्या बातों से क्या लाभ ? रे कान, तू सर्वदा रामचरित सुन, गीत-वाद्यादि सुनकर क्या होगा ? हे नेत्र, तू सब कुछ राममय देख, राम के अतिरिक्त बाकी सब त्याग दे ।

यही असल चीज है । इसकी धारणा हो तभी रक्षा है, नहीं तो निरन्तर जन्म-मृत्यु और दुःख-भोग अनिवार्य है । "चाँदमामा सभी के मामा हैं । बहुत ढूँढने पर भी वह नहीं मिलता, पर किसी-किसी को उसकी अनायास ही प्राप्ति हो जाती है।" उनके भजन में सभी को समान रूप से अधिकार है । वे सभी की अपनी माँ हैं, वे केवल मानी हुई माँ नहीं है । कोई भी बाढ़ में बहकर नहीं आया है । आप भला गाय-बकरी क्यों होंगे ? आप तो माँ की सन्तान हैं । आप असल सन्तान हैं । इसके अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं । माँ की सन्तानों को यथार्थ में कोई भय नहीं । अतएव आपको और मुझे भी कोई भय नहीं । वे जैसे भी रखेंगी, हम वैसे ही रहेंगे — हम अपना भला-बुरा नहीं समझते, हममें क्षमता भी नहीं जो समझ सकें । "तू अच्छाई-बुराई के अतीत है, मुझे भी उसके परे ले चल" — यही मेरी हार्दिक प्रार्थना है । तू मुझे किधर से किस प्रकार ले जाएगा, यह पता नहीं; परन्तु इतना दृढ़ विश्वास है कि तू मुझे ले अवश्य जाएगा । प्रभु ने कहा है — "कोई भी भूखा न रह जाएगा — सभी को भोजन मिलेगा । हाँ, यह बात और है कि कोई सुबह पाएगा, कोई दोपहर में, तो कोई शाम को ।" तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो ।

'ब्रह्मवित्' इत्यादि तो काफी ऊँची बातें हैं । मैंने तो आप से कहा था — **तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु-संसारसागरात्** — ऐसे लोगों को मैं मृत्युभय रूपी संसार-सागर से पार कर देता हूँ । (गीता १२/७) — यही भाव मेरा अवलम्बन है । **अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते** — देहाभिमानी जीव के लिए निर्गुण-ब्रह्म की उपलब्धि करना अत्यन्त कठिन है। (गीता १२/५) । मैं मूढ़ हूँ, देहात्मबुद्धि भी नहीं जाती; अतः अक्षय अव्यक्त ब्रह्मज्ञान मेरे लिये नितान्त दुरूह है ।

तथापि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति न होने पर भी, ऐसी बात नहीं कि मैं बिल्कुल ही निरुपाय होऊँ । प्रभु की वाणी में दृढ़ विश्वास है अतः मन में आशा है । एक दिन की बात कहूँ । ठाकुर का दर्शन करने दक्षिणेश्वर गया था । और भी अनेक लोग आए

हुए थे, उनमें वेदान्त के एक बहुत बड़े पण्डित भी थे। ठाकुर ने उनसे थोड़ा वेदान्त सुनाने का आग्रह किया। पण्डितजी ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ लगभग एक घण्टे तक वेदान्त की उत्तम व्याख्या की। सुनकर सभी लोग विस्मित थे, ठाकुर भी अत्यन्त आन्दित हुए। बाद में उनकी खूब प्रशंसा करने के बाद वे बोले, "पर भाई, मुझे तो इतना सब करना अच्छा नहीं लगता। मेरी तो माँ है और मैं हूँ। तुम लोगों का ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता, ध्यान-ध्येय-ध्याता, त्रिपुटी-भेद आदि बड़ी-बड़ी चीजें हैं, अच्छा है। परन्तु मेरा तो भाव है, "बस माँ और मैं – अन्य कुछ भी नहीं है।" ये बातें उन्होंने कुछ इस ढंग से कहीं कि 'माँ और मैं' का यह भाव मानो सभी के हृदय में कम-से-कम उस समय के लिए तो दृढ़मूल हो ही गया। वेदान्त के सिद्धान्त फीके लगने लगे। ऐसा प्रतीत हुआ मानो वेदान्त के उन त्रिपुटीभेद आदि की तुलना में ठाकुर का 'माँ और मैं' अति सहज सरल और मोहक है। उसी समय मैंने समझ लिया कि 'माँ और मैं', यही भाव अवलम्बनीय है।

उपासना, जप, तप आदि सब मानसिक क्रियाएँ हैं – यह बात पूर्णरूपेण सत्य है; परन्तु ऐसा अनुभव होता है कि मानसिक क्रिया के अतिरिक्त दूसरा कुछ है भी तो नहीं। फिर भी उपासना वैषयिक मन से नहीं होती। जप-तप इत्यादि सुसंस्कृत तथा शुद्ध मन कि क्रियाएँ हैं – अन्तर बस इतना ही है। 'उपासना आदि वस्तुलाभ के लिए हैं' – इसका अर्थ और कुछ नहीं, बस मन को शुद्ध करना; और मन के शुद्ध होते ही वस्तुलाभ होता है। वस्तुलाभ का अर्थ वस्तु को और कहीं से लाना नहीं है। वस्तु तो हैं ही, केवल आवृत है। वह आवरण दूर होना ही है वस्तुलाभ, और वह आवरण भी मन का ही है। वस्तु को कोई भी आवृत नहीं कर सकता। वस्तु स्वयंप्रकाश है – नित्यसिद्ध है।

इसीलिए 'कण्ठचामीकर न्याय' का दृष्टान्त दिया गया है। गले मे हार है, केवल विस्मृत हो गया है, स्मरण नहीं आ रहा है। इसीलिए इधर-उधर ढूँढ़ना पड़ता है। बाद में किसी भी उपाय से उसे जान लेने पर ही उसकी प्राप्ति हो गयी। वस्तु तब भी विद्यमान थी, जब उसका ज्ञान नहीं था। ज्ञान होने पर कहा गया कि वस्तुलाभ हुआ, अन्यथा नित्यप्राप्त है। शुद्ध मन के द्वारा ही यह जाना जाता है। शुद्ध मन भी और कुछ नहीं –

> **विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते।**
> **तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम् ॥**

– विषयों के प्रति अत्यन्त आसक्ति को ही मानसिक मल कहते हैं, फिर उन्हीं से वैराग्य होने पर उसी मन को निर्मल कहते है।

यही मन विषय को छोड़कर भगवान में अनुरक्त होते ही शुद्ध होता है। यही बिल्ली वन में जाकर वनबिलाव हो जाती है। यह imagination (कल्पना) ही पक्की होकर realisation (अनुभूति) हो जाती है। आज की कल्पना, कल की अनुभूति। दृढ़ता चाहिये। पहले कल्पना करने पर बाद में अनुभूति हो सकती है; परन्तु कल्पना न रहे तो अनुभूति भला कहाँ से होगी ?

आत्मा के बारे में पहले सुनना चाहिये, फिर मनन और निदिध्यासन; तत्पश्चात साक्षात्कार होने पर अनुभूति -- यही और क्या !

— ६४ —

इस समय मेरा स्वास्थ्य थोड़ा ठीक चल रहा है, परन्तु इसका कोई भरोसा नहीं। हो सकता है कि कल फिर अचानक पहले जैसा ही बिगड़ जाय। हमेशा ऐसा ही होता रहा है। प्रभु की जैसी इच्छा है, हो; मैं भला क्या कर सकता हूँ ? चिकित्सक बन्धुगण काफ़ी दिनों से अफीम का सेवन करने की सलाह दे रहे हैं। परन्तु इस वृद्धावस्था में अब मेरी किसी व्यसन में पड़ने की इच्छा नहीं होती। इसीलिए मैं मित्रों की सलाह पर नहीं चल सका। अब एकमात्र प्रभु का ही भरोसा है, वे चाहे जो करें। देह तो चिरस्थायी नहीं है। एक दिन तो इसका विनाश होने ही वाला है। अतः इसके लिए क्यों एक बुरी लत डालना ? अब तो एकमात्र प्रार्थना यही है कि प्रभु के श्रीचरणों में अनन्य मति रहे। उनकी कृपा से यदि यह सम्भव हो, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। अब दूसरी कोई भी कामना प्रबल नहीं है।

मैंने वेदान्त को उड़ा नहीं दिया है। वेदान्त भी क्या उड़ा देने की चीज है ? वेदान्त तो हमारा प्राण है। पर सवाल उठता है कि वह वेदान्त है क्या चीज ? आपने सुन्दर विचार किया है। इसमें तो मेरे कहने योग्य कुछ नहीं। तथापि कौन-सा उपासक जड़ की उपासना नहीं करता। मेरा कहना सिर्फ इतना है कि वे सच्चिदानन्दघन प्रभु ही सभी उपासकों के इष्ट और उपास्य हैं। सकाम कर्मीगण ही स्वर्गादि भोगसामग्री के लिए प्रार्थना किया करते हैं —

> ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
> एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ (गीता ९/२१)

-- वे उस विशाल स्वर्गलोक का सुख भोगकर, पुण्यों का क्षय होने पर पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करते है। तथा वेदों में इस प्रकार निर्दिष्ट सकाम कर्म की शरण लेकर बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

यह तो यज्ञादि कर्म करनेवालों के लिए है। अतः स्वर्ग आदि उपासक का लक्ष्य नहीं है, और ज्ञानी का तो कदापि नहीं। अब सवाल है आत्मा के बारे में, जो

सच्चिदानन्दघन चैतन्यमय है, उपासकगण इसी आत्मा या ब्रह्म को अपने अपने संस्कार के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से उपास्य के रूप में देखा करते हैं। कोई तो उन्हें पूर्ण और अपने को अंश, तथा कोई अपने को उनसे अभिन्न मानता है। कोई अन्य उन्हें महान प्रभु तथा अपने को उनसे भिन्न समझता है। परन्तु वे लोग भी अपने आपको जड़ नहीं, वरन चेतन समझते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उपासक को कहीं भी जड़ नहीं माना गया है। उपासक और उपास्य दोनों ही चेतन हैं, केवल संस्कार-भेद के अनुसार उनके भावों में भिन्नता है।

श्रीरामचन्द्र और हनुमानजी से सम्बन्धित एक उपयोगी उपाख्यान है, यहाँ पर उसका उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। वह इस प्रकार है – एक बार श्रीरामचन्द्र ने अपने ऋषि-मुनि सेवित सभा में, हनुमान को सामने रखकर, अपने सभी प्रकार के भक्तों को सन्तुष्ट करने लिए यह प्रश्न किया – "हनुमान, तुम मुझे किस भाव से देखते हो ?" 'बुद्धिमतां वरिष्ठः' हनुमानजी ने मन-ही-मन विचार किया कि प्रभु तो सर्वान्तरयामी हैं – सब कुछ जानते हुए भी जब वे इस तरह का प्रश्न कर रहे हैं, तो इसमें निश्चय ही कोई महान उद्देश्य निहित होगा। ऐसा सोचकर हनुमानजी बोले –

> देहबुद्ध्या दासोऽस्मि ते जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
> आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः।

– जब मुझमें देहबोध रहता है, तब मैं आपका दास हूँ, जब जीवबुद्धि रहती है तो मैं आपका अंश हूँ और जब आत्मबोध आता है, तो आप और मैं एक हैं – यही मेरी दृढ़ मति है।

इस उक्ति के द्वारा हनुमानजी ने सभी उपासकों का भाव व्यक्त कर दिया है। यही समस्त वेदान्त का सिद्धान्त है। इसमें सभी को उसका योग्य स्थान दिया गया है और किसी को भी निराश नहीं किया गया है। जो लोग 'मैं देह हूँ' – इस भाव से ऊपर नहीं उठ सके हैं, उनके लिए दास्यभाव – अर्थात् तुम प्रभु हो और मैं तुम्हारा दास हूँ; जो लोग देहभाव से ऊपर उठ चुके हैं और अपने आपको जीवभाव से देखते हैं, परन्तु पूर्णता लाभ नहीं कर सके हैं उनके लिए अंश-अंशी भाव है – तुम पूर्ण हो और मैं अंश हूँ; और जो लोग अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि कर सके हैं, उनका अभेद भाव है – त्वमेवाहं – तुम और मैं एक, यहाँ भेद नहीं रह जाता। ये ही तीन भाव हैं, द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत। श्रीरामचन्द्र ने अपनी सभा में उपस्थित सभी भाव के भक्तों को प्रसन्न करने के लिए ही भक्तचूड़ामणि श्रीहनुमान के मुख से यह तीनों भावों का सिद्धान्त व्यक्त करवाया। यही वेदान्त की परम व्याख्या है।

,किसी को भी हताश होने की जरूरत नहीं। जो कोई भी, किसी भी अवस्था में क्यों न हो, सब उसी एक ही सम्बद्ध हैं और उसी की उपासना कर रहे हैं –

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्। (गीता १५/१५)

– मैं सभी के हृदय में प्रविष्ट होकर निवास करता हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा अपोहन (अर्थात् विस्मृति व अज्ञान) होता है। सब वेदों द्वारा मैं ही ज्ञेय हूँ और मैं ही वेदान्त का कर्ता वेतवित् हूँ।

वे ही एक चेतन सत्ता, सर्वमय परम पुरुष, सभी के भीतर ओतप्रोत होकर व्याप्त हैं। वे ही समस्त वेदों के ज्ञेय हैं, वे ही वेदान्तकर्ता हैं और वे ही वेदज्ञ हैं। यही जान लेने पर वेदान्त का जानना हो गया। और यदि इसका अनुभव न हो, तो सारे वेदान्त शास्त्रों को घोलकर पी जाने पर भी वेदान्त के सत्य का ठीक-ठीक बोध नहीं होता। मैंने तो यही समझा है। ठाकुर के 'मैं हूँ और मेरी माँ हैं' – इस उक्ति का अर्थ मैंने इसी रूप में समझा है; उन्होंने तो जड़ और चेतन की बात नहीं कही। उन्होंने तो चेतन की ही बात कही है – उपास्य चेतन है और उपासक भी चेतन है। यही सन्तानभाव है – शिशु माँ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता – यह अनन्यभक्ति है। वे ही सब कुछ हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। (गीता १०/४२)

– अथवा हे अर्जुन, यह बहुत कुछ जानने से तेरा क्या प्रयोजन ? अपने एक अंश मात्र से ही मैं इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके स्थित हूँ।

अपने एक चौथाई अंश के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है और उनके तीन पाद नित्यमुक्त और सर्वातीत हैं। वेदों में भी गाया गया है – **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** – इस विश्व के समस्त भूत उनका एक पाद है और उनके तीन पाद अमृतलोक में नित्यमुक्त रूप से प्रतिष्ठित हैं। (ऋग्वेद १०/९०/३) यह तो हुआ ब्रह्म के सम्बन्ध में; अब जीव के सम्बन्ध में देखो – जीव में देहबुद्धि रहने पर वे प्रभु है और मैं दास हूँ।

जीवबुद्धि होने पर वे पूर्ण हैं और मैं उनका अंश। और जब जीव को यह बोध होता है कि 'मैं स्वयं ही आत्मा हूँ, और भेदबुद्धि का लोप हो जाता है, तब वह परमात्मा के साथ अभिन्न होकर कहता है 'त्वमेवाहं' – यहीं पर जीव का लय हो जाता है। यही सर्वसम्मत वेदान्त ज्ञान है। वे ही सब हैं। प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता

– सब उन्हीं को छोड़कर और कुछ भी नहीं है। उनके अतिरिक्त और कुछ है यह वही कहता है जिसका मोह नहीं गया। वह **'निद्रितवत् प्रजल्पः'** मानों नींद की झोंक में क्या बड़बड़ा रहा है, उसे खुद ही पता नहीं।

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंचते – जिस ब्रह्म में इस जगत्-प्रपंच का लेशमात्र भी नहीं है, वही अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा इस प्रपंच के रूप के रूप में प्रतीत होता है। इस भाव से श्रुति में – **एतस्मात् आत्मनः आकाश सम्भूतः** – इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ। (तैत्तिरीय उप. २/१) इत्यादि कहा गया है, वास्तविक सृष्टि के लिए नहीं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ।। (माण्डुक्य. वैतथ्य.३२)

– विनाश भी नहीं, उत्पत्ति भी नहीं; न कोई बद्ध है और न कोई साधक; न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त ही है – यही पारमार्थिक सत्य है। यह हुई सिद्धान्त पक्ष की बात।

सालोक्य, सामीप्य के बारे में शंकराचार्य और क्या कहेंगे ? आप तो जानते ही है कि भागवत में भगवान ने **'दीयमानं न गृह्णन्ति'** कहकर भक्त के निःस्पृह भाव की घोषणा की है। स्वाध्याय, जप-तप, ध्यान-धारणा, समाधि आदि को कोई भी लक्ष्य नहीं कहता। **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय** – उन्हें जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं (श्वेताश्वर उप. ३/८)। यही वेदान्तवाक्य है। और गीतामुख से भगवान कहते हैं –

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। (८/१६)

– हे अर्जुन, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में जाकर भी पुनरागमन करना पड़ता है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। (१०/२०)

– हे निद्राजयी अर्जुन, मैं सभी भूतों में स्थित आत्मा हूँ। मैं सभी भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।। (९/१८)

– मैं ही सबकी गति, सबका पालक, स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरण तथा हित करनेवाला मित्र हूँ, मैं ही सबकी उत्पत्ति और लय का स्थान तथा जीवनरूपी बीजरूप निधान हूँ। इत्यादि।

अतः वे जो जीव के सर्वस्व हैं, इस सम्बन्ध में ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आम खाने के लिए आकर आम खाना ही अच्छा है। दूसरी बातों को जानने की क्या जरूरत ? प्रभु जिन्हें आचार्य का कार्य देंगे – वे ही दूसरी चीजों के बारे में विचार करेंगे कि किस धर्म के द्वारा किसकी हानि या उन्नति होगी ? हम लोग आम खाकर ही धन्य जाएँगे। प्रभु आपकी 'बगीचे के मालिक' के साथ मुलाकात करा दें, यही मेरी उनसे साग्रह प्रार्थना है।

– ६५ –

उन्नत होने के लिए, जीवन को पवित्र रखकर भगवान के प्रति भक्तिलाभ और मानव जीवन को सार्थक करने के लिए अनन्य आग्रह की सभी को आवश्यकता है। तुम्हारे मन-प्राण में इसी प्रकार की व्याकुलता है, यह जानकर मुझे बड़ा आह्लाद हुआ। प्रभु से यही अनुनय और प्रार्थना है कि वे तुम्हारे हृदय में बल का संचार करें।

जितेन्द्रिय होना अत्यन्त कठिन है, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय भी नहीं। तुमने पूछा है कि कौन-सी इन्द्रिय पहले जय करनी चाहिए। भगवान ने कहा है कि सभी इन्द्रियों को वश में लाना होगा। **तानि सर्वाणि संयम्य** (गीता २/६१) इत्यादि। मनु कहते हैं कि इन्द्रियों में यदि एक भी अनियन्त्रित रहे, तो जिस प्रकार छेद हुए मशक से भिश्ती के जाने बिना ही सारा जल बह जाता है, वैसे वह इन्द्रिय सारा ज्ञान हरण कर लेती है –

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥ (मनुस्मृति २/९९)

अतः सभी इन्द्रियों को जय करना होगा। तथापि सभी इन्द्रियाँ बलवान होने पर भी निःसंदेह जिह्वा और उपस्थ ही सबसे प्रधान हैं। श्रीमद् भागवत में लिखा है कि सभी इन्द्रियों को जय कर लेने पर भी जो लोग रसना पर विजय नहीं प्राप्त कर सकें हैं, उन्हें जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता –

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ (भागवत ११/८/२१)

अतः रस को जय करना है प्रथम कर्तव्य है। परन्तु भगवान और भी एक बात कहते हैं –

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते । (गीता २/५९)

— अर्थात् कठोरतापूर्वक आहारादि त्यागकर उपासना करने पर विषयों को दूर किया जा सकता है, परन्तु उनके प्रति जो आसक्ति है, वह दूर नहीं होती ।

यह विषयासक्ति केवल भगवद्दर्शन के द्वारा ही दूर होती है। जैसा कि हमारे ठाकुर कहा करते थे — "जिसने मिश्री का शरबत पिया है, गुड़ का शरबत उसे नहीं भाता ।" अर्थात् भगवान से प्रेम हो जाने पर मनुष्य का प्रेम नहीं रुचता । उनके प्रति प्रेम होना चाहिए । फिर विषय-भोग अच्छे नहीं लगेंगे । "जितना ही पूरब की ओर बढ़ोगे, पश्चिम दिशा उतनी ही पीछे छूटती चली जायगी" — इसी प्रकार जितना ही भगवान की ओर बढ़ोगे, उतना ही विषय भी अपने आप पीछे रह जाएँगे, विषयों को छोड़ने का प्रयास नहीं करना होगा । यहाँ यही संकेत है। भगवान का भजन करना ही सार है । फिर लालसा और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी होगी, वे स्वयं ही हार जाएँगे ।

भगवान का भजन करने से तात्पर्य है, मन प्राण आदि सब कुछ उन्हें अर्पित करना। वे ही प्राणों के लिए सर्वाधिक प्रिय वस्तु होंगे । हृदय का सोलहों आना आकर्षण उन्हीं के लिए होगा । उन्हें अभी तक नहीं पा सका, उनसे प्रेम नहीं हुआ, कहकर रोना होगा, तभी तो वे अपने प्रति प्रेम देंगे । उनकी कृपा चाहिए, उनकी कृपा के बिना कुछ भी नहीं होगा । तो भी ठाकुर कहा करते थे कि "उनकी ओर एक डग भी बढ़ाने से, वे सौ कदम बढ़ आते हैं, वे परम दयालु हैं ।" यही एकमात्र आशा है । प्राण मन — सब कुछ उन्हें देकर उनसे प्रेम करो । तब देखोगे कि उनकी कितनी कृपा है । खाने-पहनने से कुछ खास फरक नहीं पड़ता । छोटी-मोटी इच्छाएँ पूरी कर लेने में दोष नहीं, पर हाँ विचार चाहिए । यह ध्यान रखना होगा कि भगवान को छोड़कर और किसी के प्रति विशेष आसक्ति न हो । भक्तिलाभ के लिये सत्संग, सद्ग्रन्थ — जिनमें भगवद्-विषयक बातें हो ऐसे ग्रन्थों का पठन तथा बुरे लोगों के संग से दूर रहने की आवश्यकता है ।

इलाहाबाद में स्वामी विज्ञानानन्द हैं, उनके पास जाना, और ..... हैं, उनके साथ खूब वार्तालाप करना । वे लोग तुम्हारे लिए जो उचित होगा, वही उपदेश देंगे । इस प्रकार तुम प्रभु की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना, तो फिर कोई भय न रहेगा । उनकी शरण लेने पर सारी चिन्ता व विपत्तियों से मुक्ति मिल जाती है । भगवान कहते हैं — **तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्** — उनकी कृपा से तू परम शान्ति तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा। (गीता १८/६२) अतएव ज्यादा क्या लिखूँ । उन्हीं की शरण लो, तो सर्व आनन्द की प्राप्ति होगी । ✩